सत्यमेव जयते

भारत का विधि आयोग

न्यायिक प्रशासन के विकेन्द्रीकरण :

उच्च शिक्षा के केन्द्रों को अन्तर्वलित करने वाले विवादों का निराकरण

पर

एक सौ तेईसवीं रिपोर्ट

जनवरी, 1988

अर्ध शास० पत्र क्र० 6 (2) (1)/88 – वि० आ०

डी० ए० देसाई
अध्यक्ष

विधि आयोग,
भारत सरकार,
नई दिल्ली,
जनवरी 15 1988

प्रिय श्री शिवशंकर,

भारत सरकार द्वारा न्यायिक सुधारों, विशेषतः अन्य बातों के साथ-साथ न्यायिक प्रशासन के विकेन्द्रीकरण, का अध्ययन करने के लिए भारत सरकार द्वारा सूत्रबद्ध निर्देश पदों के अधिकांश भाग को सम्मिलित करते हुए, न्याय प्रशासन के विकेन्द्रीकरण उच्च शिक्षा के केन्द्रों को अन्तर्वलित करने वाले विवाद के संबंध में विधि आयोग की एक सौ तेइसवीं रिपोर्ट भेजते हुए मुझे प्रसन्नता है।

अब तक आपने इस सुविदित तथ्य का संज्ञान अवश्य किया होगा कि न्यायिक सुधारों की सिफारिश करने का कार्य विधि आयोग को फरवरी, 1986 में सौंपा गया था। पृथक् न्यायिक सुधार आयोग स्थापित करने के विचार का त्याग करते हुए और यह कार्य विधि आयोग को सौंपते हुए, तत्कालीन विधि और न्याय मंत्री के पत्र द्वारा भारत सरकार ने यह चाहा था कि इस कार्य को सर्व प्राथमिकता दी जाए।

न्याय दान प्रणाली में उत्पन्न संकट बहुत अधिक स्पष्ट हो चुका है। अतः विधि आयोग न्यायिक प्रशासन में नीचे से लेकर ऊपर तक आमूल परिवर्तनों की सिफारिश किए जाने को सर्व प्राथमिकता दिए जाने की भारत सरकार की चिन्ता को भलीभांति समझ सकता है। तदनुसार, विधि आयोग ने उन विभिन्न कारणों पर, जिनने न्याय दान प्रणाली की वर्तमान रूग्णता में योग दिया है, प्रकाश डालते हुए अपनी स्वयं की एक परिप्रेक्ष्य योजना तैयार की और ऐसे प्रत्येक कारण की विवेचना करते हुए, प्रत्येक कारण के संबंध में पृथक्-पृथक् रिपोर्ट देने के लिए अग्रसर हुआ। विधि आयोग ने अपना दृष्टिकोण संविधान के अनुच्छेद 31क के अनुरूप बनाया जो "राज्य से यह सुनिश्चित करने की अपेक्षा करता है कि विधिक प्रणाली की संक्रिया समान अवसर के आधार पर न्याय का संवर्धन करती है और वह विशेषतः यथोचित विधान या स्कीमों या किसी अन्य तरीके से निःशुल्क विधिक सहायता यह सुनिश्चित करने के लिए उपलब्ध कराएगी कि किसी नागरिक को न्याय पाने के अवसरों से आर्थिक या अन्य निर्योग्यताओं के कारण वंचित नहीं किया जाता। इस उद्देश्य को कार्योन्मुख कार्यक्रम में रूपांतरित करने के लिए न्याय प्रणाली को, जिस रूप में वह वर्तमान में कार्यशील है, संक्रांत करने वाले चार तत्वों से मुक्त होना चाहिए, अर्थात् विलम्बता, दीर्घसूत्रता, औपचारिकता और असहनीय खर्च। इसके पूर्व और उसी तारतम्य में प्रस्तुत रिपोर्टों में इस उद्देश्य पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

विशेषज्ञीय अधिकरण की व्यवस्था करके विकेन्द्रीकरण से विलंब खर्च और तकनीकी-औपचारिक दृष्टिकोण में कमी आएगी। इस धारणा पर, इस रिपोर्ट में शिक्षा के क्षेत्र में उद्भूत होने वाले विवादों के लिए जो व्यापक क्षेत्र को आवृत्त करते हैं, विशेषज्ञीय अधिकरण के संबंध में विचार किया गया है। यह अन्य संबद्ध रिपोर्टों के साथ कार्यान्वित की जाने पर, उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय में आने वाले कार्य को कम करने के वांछित उद्देश्य की पूर्ति करेगी जो न्यायिक सुधारों के भाग के रूप में नियत किए गए लक्ष्यों में से एक लक्ष्य है।

अतः मैं आपसे अनुरोध करना चाहूंगा कि न्यायिक प्रणाली को, जो लंबित मुकदमों के असहनीय भार और दबाव के कारण कार्यशील नहीं रह गई है सुधारने के एक अभिन्न भाग के रूप में इन रिपोर्टों का अध्ययन करने के लिए एक विशेष प्रकोष्ठ की स्थापना की जाए।

विधि आयोग इन रिपोर्टों को कार्यान्वित करने के लिए सरकार के कार्ममूलक कार्यक्रम से अवगत होना चाहेगा।

सादर,

भवदीय,

डी० ए० देसाई

माननीय श्री पी शिवशंकर,
मंत्री, विधि और न्याय,
भारत सरकार,
शास्त्री भवन, नई दिल्ली

संलग्न – रिपोर्ट

1500 LftJ/88—1

विषय-वस्तु

	पृष्ठ
अध्याय 1—प्रारम्भिक	1
अध्याय 2—क्या परिवर्तन की आवश्यकता सिद्ध हो गई है	3
अध्याय 3—आधार-सामग्री का संग्रहण और उसकी अपर्याप्तता	12
अध्याय 4—विश्वविद्यालय स्तर पर विवादों के निराकरण के लिए विद्यमान आधारिक संरचना	13
अध्याय 5—विचार-विमर्श	17
अध्याय 6—उपागम/दृष्टिकोण	21
अध्याय 7—निष्कर्ष और सिफारिशें	23
निर्देश	27
उपाबंध — न्याय प्रशासन के विकेन्द्रीकरण	29
उच्च शिक्षा के केन्द्रों को अन्तर्वलित करने वाले विवाद	29
उच्च शिक्षा के केन्द्रों को अन्तर्वलित करने वाले विवाद पर कार्यपत्र	30

अध्याय

प्रारंभिक

1.1. उन क्षेत्रों की पहचान करने की तलाश जारी रखते हुए जिनमें एकाश्म न्याय पद्धति के विकेन्द्रीकरण का सूत्रपात प्रभावी ढंग से किया जा सकता है, यह रिपोर्ट उस क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण का सूत्रपात करने की दशा में प्रभावी ढंग से गतिमान होने के लिए उद्दिष्ट है जिसका पार्श्व चित्र हाल ही के वर्षों में इस कारण से उभर कर सामने आया है कि उस क्षेत्र में अनेक विवाद उत्पन्न होते हैं और न्यायालयों में आते हैं। स्वतंत्रता के आगमन के समय से ही, उच्चतर शिक्षा के लिए जबरदस्त लहर उठ पड़ी है। विशेषीकृत शाखाओं, जैसे आयुर्विज्ञान, अभियांत्रिकी, कृषि और विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में वृत्तिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करने वाली संस्थाओं में कई गुना वृद्धि हुई है। तथापि, ऐसे वृत्तिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश की मांग, स्थानों की उपलभ्यता से अधिक है। ऐसी संस्थाओं में प्रवेश प्राप्त करने के लिए तीव्र और भयावह स्पर्धा है। परिणामस्वरूप, संस्थाओं और प्रवेशार्थी अभ्यर्थियों के बीच, विश्वविद्यालय और ऐसी संस्थाओं के बीच और यहां तक कि सरकार और प्रवेशार्थी व्यक्तियों के बीच अनेक विवाद उत्पन्न होते हैं। विशेष न्यायाधिकरण के अभाव में ये विवाद सभी स्तरों पर सिविल न्यायालय में, जिनमें उच्च न्यायालय और भारत का उच्चतम न्यायालय भी सम्मिलित है, ले जाए जाते हैं। ये न्यायालय, अपनी बोझिल कार्यसूची के कारण इन विवादों को सर्वोच्च प्राथमिकता देने में असमर्थ रहे हैं। परिणामतः ये विवाद घिसटते रहते हैं और अनेक समस्याएं पैदा करते हैं। अतः विधि आयोग ने, विशेषज्ञ अधिकरणों की तलाश करने में अपना ध्यान शिक्षा के क्षेत्र में उद्भूत होने वाले विभिन्न प्रकार के विवादों पर इस दृष्टि से केन्द्रित किया है कि इस बात का कि क्या शिक्षा के क्षेत्र में इन विवादों के निराकरण के लिए कोई विशेषज्ञीय प्रशिक्षण अपेक्षित है तथा उसके शीघ्र निपटारे की समीचीनता का पता लगाया जा सके और परिणामतः उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालय के बोझ को कम किया जा सके।

1.2. विधि आयोग ने तद्नुसार दि० 9 मार्च, 1987 को एक कार्यपत्र (जो इसके साथ संलग्न है), उसके साथ एक प्रश्नावली संलग्न करते हुए, जारी किया और उसका व्यापक प्रचार किया। कार्यपत्र विश्वविद्यालयों, शिक्षक संघों, छात्र संघों, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, भारतीय विश्वविद्यालय के संघ आदि को भेजा गया। कार्यपत्र का प्रिन्टमीडिया में व्यापक प्रचार किया गया।

1.3 शिक्षा के क्षेत्र में प्रभावित हितों की प्रतिक्रिया बहुत उत्साहवर्धक रही। भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ ने इस कार्यपत्र को सभी विश्वविद्यालयों में इस अनुरोध के साथ प्रचलित किया कि प्रत्येक विश्वविद्यालय इस कार्यपत्र पर एक दिवसीय सेमीनार में चर्चा करे जिसमें विश्वविद्यालय समुदाय का प्रत्येक सदस्य भाग ले और अपनी सिफारिशें विधि आयोग को भेजे। प्रगति की कार्यवाही के रूप में, भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ ने 2 मई, 1987 को देहली में एक सेमीनार आयोजित किया। 61 से अधिक कुलपतियों ने तथा विश्वविद्यालयों के विभिन्न विभागों के निदेशकों और विभागाध्यक्षों ने इस सेमीनार में भाग लिया। सेमीनार में, कार्यपत्र से संलग्न प्रश्नावली के प्रत्येक प्रश्न पर विचार किया और उसका उत्तर दिया गया। सेमीनार की सिफारिशें भेजते हुए, भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ के सचिव ने विधि आयोग को सूचित किया कि भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ के अध्यक्ष प्रोफेसर जी० राम रेड्डी ने विषय का गहराई से अध्ययन करने और विधि आयोग से संपर्क स्थापित करने के लिए एक कार्यकारी समूह स्थापित किया है। सेमीनार ने अन्य बातों के साथ विधि आयोग के इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि एक केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण स्थापित किया जाना चाहिए जिसे संबद्ध सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के शिक्षकों और विद्यार्थियों को अन्तर्वलित करने वाले अभिकथित न्यायहानि के संबंध में कार्यवाही करनी चाहिए। ऐसा अधिकरण, सेमीनार के अनुसार शैक्षिक समस्याओं के लिए एक अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य उपलब्ध कराएगा और, इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए, एक बहुस्तरीय और एकीकृत न्यायिक पद्धति इस प्रकार बनाई जानी चाहिए कि जिससे न्याय प्रशासन के विकेन्द्रीकरण का उद्देश्य पूरी तरह प्राप्त किया जा सके। अधिकरण की संरचना के बारे में सेमीनार ने अपनी यह निश्चित राय यह कहते हुए व्यक्त की कि उसमें प्रख्यात शैक्षिक प्रशासक, कुलपति, आचार्य और न्यायाधीश होने चाहिएं। उसने यह भी राय व्यक्त की कि शैक्षिक विषयों से संबंधित सभी विवाद अधिकरण की व्याप्ति में होने चाहिएं। तथापि, संपत्ति संबंधी मामलों में सिविल न्यायालयों द्वारा कार्यवाही की जानी चाहिए। सेमीनार की यह राय थी कि ऐसा अधिकरण शिक्षा संबंधी मामले शीघ्रता से सुलझा सकेगा जिससे विश्वविद्यालय के केम्पसों में एक बड़ी सीमा तक शांति सुनिश्चित हो सकेगी और शैक्षणिक स्तर का उन्नयन हो सकेगा। इस महत्वपूर्ण विषय का अनुवर्तन करने के लिए विधि आयोग, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, भारत सरकार आदि को सम्मिलित करते

हुए एक कार्यकारी समूह स्थापित किया गया। भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ ने यह वायदा किया कि वह विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के उन शैक्षिक विवादों की जानकारी एकत्र करेगा जो विभिन्न न्यायालयों में लंबित हैं। प्रभावित हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक अन्य निकायों ने विधि आयोग के कार्यपत्र का उत्तर दिया। यद्यपि केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण स्थापित किए जाने के पक्ष में निकटस्थ सर्वसम्मति थी, जैसा कि कार्यपत्र में वर्णित किया गया है कुछ विश्वविद्यालय अध्यापकों और विश्वविद्यालय अध्यापक संघों द्वारा विसम्मति प्रकट की गई उनकी आशंका यह थी कि ऐसे अधिकरण में सेवानिवृत्त कुलपति और शिक्षा विभाग के प्रशासक छा जाएंगे और वह विवादों का न्यायोचित निराकरण करने में अपनी सत्यनिष्ठा, निष्पक्षता, दक्षता और सामर्थ्य के बारे में विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकेगा।

1.4. विधि आयोग को चर्चाधीन विषय पर इस व्यापक वाद-विवाद से बहुत लाभ हुआ। इस अर्जित ज्ञान से, पहले इस विषय पर विचार करना लाभप्रद होगा कि क्या शिक्षा के क्षेत्र में न्याय प्रशासन का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। क्या वह हेतुवादी व्यक्तियों और साधारणतः समाज दोनों के लिए सहायक होगा? क्या उससे शिक्षा क्षेत्र के विवादों के शीघ्र और उचित निराकरण में मदद मिलेगी – क्या न्यायाधिकरण को सहभागिक होना चाहिए? उसे किस स्तर पर क्रियाशील होना चाहिए? इस अधिकरण में रखे जाने के लिए व्यक्तियों का चयन करने के लिए मानदण्ड क्या होना चाहिए? नियुक्ति प्राधिकारी कौन होना चाहिए? इन प्रश्नों का उत्तर देने में, विधि आयोग को उन आपत्तियों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए जो कुछ प्रभावित हितों द्वारा उठाई गई हैं और स्वयं इस बात से आश्वस्त कर लेना चाहिए कि प्रस्तुत की गई विसम्मतियों के लिए तर्क-संगत और वैज्ञानिक उत्तर हैं और यह कि यह प्रयोग अनुमानित हानियों से अधिक महत्वपूर्ण है, और ऐसा करके आयोग को उनकी आशंकाओं का निराकरण करना चाहिए।

अध्याय 2

क्या परिवर्तन की आवश्यकता सिद्ध हो गई है

2.1 प्रथम प्रश्न, जिस पर आयोग का ध्यान जाना चाहिए, यह है कि क्या शिक्षा के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले विवादों के संबंध में कार्यवाही करने के लिए एक विशेषज्ञीय अधिकरण स्थापित करने की आवश्यकता सिद्ध हो गई है। इस प्रश्न का उत्तर विवादों की प्रकृति और उनके शीघ्र, वैज्ञानिक और उचित निराकरण के लिए आवश्यक तकनीकी व्यवहार ज्ञान अभिनिश्चित करने में निहित है। इस पहलू का परीक्षण इस तथ्य के आलोक में किया जाना चाहिए कि क्या न्यायालयों में प्रकट किया गया मात्र विधिज्ञ दृष्टिकोण इन विवादों के वैज्ञानिक, विवेकपूर्ण और न्यायापूर्ण निराकरण के लिए पर्याप्त होगा। क्या इस समस्या के बारे में कार्यवाही करने के लिए विशेषज्ञ न्यायालय राज्य न्यायालयों से अधिक सक्षम होगा?

2.2. विधि आयोग ने अपनी ठीक पूर्ववर्ती रिपोर्ट में केन्द्र और राज्य स्तर पर औद्योगिक संबंध आयोग स्थापित किए जाने की सिफारिश करते हुए, विशेषज्ञ अधिकरण स्थापित करने के लिए व्यापक और पर्याप्त कारण बताएं हैं। ये कारण शिक्षा के क्षेत्र की समस्याओं के लिए विशेषज्ञ अधिकरण गठित किए जाने के लिए इस रिपोर्ट में प्रतिपादित दृष्टिकोण को, यथा आवश्यक परिवर्तन सहित, समर्पित करेंगे यदि इस रिपोर्ट में उन सभी धारणाओं की पुनरावृत्ति की जाती है तो उससे केवल इस रिपोर्ट के आकार में ही वृद्धि होगी। विधि आयोग का एक मार्गदर्शी विचार यह है कि ऐसे विशेषज्ञ अधिकरण कम औपचारिक, कम तकनीकी, द्रुतगामी और परिणाममूलक होंगे। यह महत्वपूर्ण सामाजिक आन्दोलन का एक भाग है जो विधिक पद्धति में सुधार लाने के लिए उद्दिष्ट है। पुलिस, कारागार, विधिक सेवाओं, चिकित्सीय और शैक्षणिक अभिकरणों जैसी संस्थाओं को विवादों से निपटने के लिए अपनी क्षमता बढ़ाने, सेवाओं का विस्तार करने और नए विकल्पों का विकास करने के लिए सहायता दी गई है[2]। क्या इन सब कार्यवाहियों की परिणति वास्तव में सुधारों में होती है, यह संदिग्ध है क्योंकि बहुधा उन समस्याओं की जिनका समाधान ढूंढा जाता है, जड़ें समाज की संरचना में होती हैं जबकि समाधान इन संरचनाओं के विद्यमान स्तम्भों का निर्माण करते हैं[3]। यह अविवादास्पद है कि न्याय पद्धति अत्यधिक जटिल और समुदाय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए असंवेदनशील हो गई है। न्यायालयों की संरचना और प्रक्रियाओं को सरलीकृत और सुव्यवस्थित करने के प्रयास किए जा रहे हैं। तथापि, अत्यधिक महत्वपूर्ण एक अन्य प्रयास है जिसके बारे में विचार करना आवश्यक है। विवादों का कम औपचारिक और अधिक संवेदनशील न्यायाधिकरण में ले जाकर उन्हें न्यायालयों से पूर्णतः हटाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। सरलीकरण और अनौपचारिकता के लिए वर्तमान आन्दोलन, प्रक्रियाओं को सरल बनाने से ले कर न्याय प्रशासन के विकेन्द्रीकरण तक के बहुविध क्रियाकलापों के लिए उद्दिष्ट है।

2.3. अतएव इस बात का परीक्षण करना आवश्यक है कि क्या शिक्षा के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले विवाद ऐसे हैं जिनके लिए ऐसे व्यक्तियों से युक्त विशेषज्ञ न्यायाधिकरण की आवश्यकता है जो शिक्षा जगत की समस्याओं से अवगत हों। शिक्षा के महत्व को इस संबंध में विशेषज्ञों की रिपोर्ट से समझा जा सकता है। उसमें कहा गया है:

> "शिक्षा सदैव महत्वपूर्ण रही है किन्तु वह मानव इतिहास में कदाचित इतनी अधिक महत्वपूर्ण कभी भी नहीं रही जितनी वह आज है। विज्ञान पर आधारित दुनिया में, शिक्षा और अनुसंधान देश की समग्र वैधानिक प्रक्रिया, उसके कल्याण, प्रगति और सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण हैं। विज्ञान से आच्छादित जगत उसका एक विशेष लक्षण है और वस्तुओं के भावी स्वरूप का पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। इससे ऐसी शिक्षा नीति की आवश्यकता बहुत अधिक बढ़ जाती है जिसमें अन्तर्भूत नम्यता हो ताकि वह बदलती हुई परिस्थिति के अनुरूप बन सकें।"

2.4. कोठारी आयोग की रिपोर्ट के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने 1988 में शिक्षा की राष्ट्रीय नीति घोषित की जो स्वतंत्रता पश्चात् शिक्षा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण कदम था। वह राष्ट्रीय प्रगति, सामान्य नागरिकता और संस्कृति की भावना का विकास करने और राष्ट्रीय अखण्डता को मजबूत करने के लिए उद्दिष्ट थी। उसमें शिक्षा पद्धति के आमूल परिवर्तन, सभी स्तरों पर उसकी गुणवत्ता में सुधार करने, विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर अधिक ध्यान देने, नैतिक मूल्यों तथा शिक्षा और लोगों के जीवन के बीच निकट संबंध स्थापित करने पर बल दिया गया था[5]। सन् 1968 की नीति अपनाए जाने के पश्चात् से पूरे देश में शिक्षा की सभी शाखाओं में शिक्षा की सुविधाओं में निःसंदेह बहुत विस्तार हुआ है। जनवरी 1985 में, भारत सरकार ने घोषणा की कि देश के लिए एक नई शिक्षा नीति बनाई जाएगी। देश-व्यापी बहस प्रारम्भ हुई सावधानी पूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् शिक्षा की राष्ट्रीय नीति—1986, मई

1986 में घोषित की गई । वह इस राष्ट्रीय दृष्टिकोण पर आधारित है कि शिक्षा सभी के लिए आवश्यक और सर्वमुखी भौतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए मूलभूत हैं। यह स्वीकार किया गया कि शिक्षा की भूमिका संस्कृतिग्राही है । वह संदेशनशीलता और अनुभूतियों का परिष्करण करती है जो राष्ट्रीय सामंजस्यता, वैज्ञानिक प्रकृति और मस्तिष्क और भावना की स्वतंत्रता में योगदायी होती है और इस प्रकार हमारे संविधान में प्रतिष्ठापित सामाजिक, धर्म निरपेक्षता और लोकतन्त्र के लक्ष्यों को आगे बढाती है । इस महान उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए, इस नीति में सभी स्तरों पर शिक्षा के संबंध में विचार किया गया है। यह धारणा की जाती है कि नई नीति क्रियान्वित करने में प्रबंध पद्धतियों में मूलभूत परिवर्तन होंगे । इस बात की आवश्यकता महसूस की जाती है कि विद्यार्थियों को उनसे कदम मिला कर चलने की योग्यता से सज्जित किया जाए। इस नीति के अन्तर्गत प्रारंभिक बाल्यावस्था में शिक्षा, प्रारम्भिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, व्यवसायीकरण, उच्च शिक्षा और ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना आती है । यह नीति तकनीकी और प्रबंधकीय शिक्षा की सुविधाएं प्रदान करने के लिए आशयित है। इस व्यापक नीति में शिक्षा प्रबंध का भी ध्यान रखा गया है । शिक्षा के केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड को, नीति कथन प्रस्तुत की गई रूपरेखा के व्यापक विकास कार्यक्रम में मूलभूत भूमिका निभानी है । इस नीति में अखिल भारतीय शिक्षा सेवा की स्थापना की भी परिकल्पना की गई है। इस नीति में शिक्षा के राज्य सलाहकार बोर्ड और साथ ही जिला शिक्षा बोर्डों की स्थापना पर भी विचार किया गया है ।

2.5. शिक्षा राज्यसूची की प्रविष्टि[11] का विषय था । संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा वह प्रविष्टि निकाल दी गई और शिक्षा को समवर्ती सूची की प्रविष्टि 25 में रखा गया । 1968 और 1986 के मध्यान्तर के दौरान, शिक्षा सुविधाओं का व्यापक विस्तार हुआ और शिक्षा के क्षेत्र में अनेक विवाद उत्पन्न हुए । यह आश्चर्यजनक है कि शिक्षा की राष्ट्रीय नीति 1986 में शिक्षा के क्षेत्र में विवादों की इस अभूतपूर्व वृद्धि पर कोई ध्यान नहीं दिया गया और इस संबंध में विवादों के निराकरण की विद्यमान पद्धति का कोई विकल्प नहीं सुझाया गया। यह लोप संयोगिक नहीं है। यह धारणा की गई होगी कि शिक्षा के ढांचे में होने वाला परिवर्तन स्वयं ही इन विवादों को समाप्त करने के लिए पर्याप्त होगा । यह निष्पत्ति पवित्र निष्ठा से की जाने वाली आकांक्षा है ।

2.6. शिक्षा के क्षेत्र में कल्याणकारी राज्य से की जाने वाली आशाएं जो ऊपर वर्णित हैं, तथा जनसंख्या में होने वाली अत्यधिक वृद्धि, उच्च शिक्षा की अशांत पिपासा, मांग के अनुरूप शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की धीमी गति और अत्यधिक प्रतिस्पर्धी समाज, जैसे सभी तत्व मिलकर, किन्डरगार्डन से लेकर सर्वोच्च वृत्तिक पाठ्यक्रमों की संस्थाओं में प्रवेश को अत्यधिक प्रतिस्पर्धी बना देते हैं और वह प्रवेश चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की सहज पहुंच के भीतर नहीं हो पाता। इसके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में बढ़ते हुए विवादों के लिए उर्वर क्षेत्र उत्पन्न हो गया है ।

2.7. इस समस्या का विशिष्टिकरण करने वाला एक अन्य कारण है जिस पर इस प्रक्रम पर विचार करना आवश्यक है। भारतीय समाज का स्वरूप सामंतवादी और धर्मतंत्रात्मक दोनों ही थीं। हजारों वर्ष तक अनुसूचित जनजातियां और अनुसूचित जातियां वर्णक्रम के निम्नतम छोर पर रहीं और शोषण की शिकार रहीं। समाजिक दृष्टि से यदि कहा जाए तो वे अर्ध दासता की दशा में रहीं और समाज के उच्च वर्ग द्वारा उन्हें सेवाओं और शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश से वंचित रखा गया। वे भेदभाव की शिकार थीं। स्वतंत्र भारत ऐसी स्थिति को एक दिन के लिए भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। सामंतवादी समाज को समानतावादी समाज में बदलने में राज्य की शक्ति पर एक निर्बन्धन यह था कि यह केवल धर्म, मूलवंश, जाति, जन्म स्थान या उनमें से किसी के भी आधार पर नागरिकों के विरुद्ध भेदभाव नहीं करेगा। इस प्रतिबंध को शिथिल करने के लिए, अनुच्छेद 15 के उप अनुच्छेद (4) ने राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के लिए विशेष उपबंध करने की शक्ति प्रदत्त की है। इस प्रकार राज्य की अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित जातियों और सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग के सदस्यों की उन्नति के लिए सकारात्मक कार्यवाही करने की शक्ति प्रदत्त की गई, भले ही वह ऐसे उपायों द्वारा की जाए जो स्पष्टतः विभेदकारी हो। यह शक्ति प्राप्त हो जाने से उनेक राज्यों ने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों और सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के वर्ग के लिए के पक्ष में स्थानों के आरक्षण के लिए विधियां अधिनियमित कीं या विशेष उपबंध किए इसके परिणामस्वरूप, 1951 से प्रारम्भ होकर 1985 तक मुकदमों की एक श्रृंखला आरम्भ हुई। व्यक्तियों के उन विभिन्न वर्गों के हेतु, जिनके लिए अनुच्छेद 15(4) के बिन्दु परिमाण के अन्तर्गत आरक्षण किया जा सकता है, आरक्षण का प्रतिशत क्या होना चाहिए यह एक नीति विषयक निर्णय था, जिसके लिए चुनाव और विकल्प स्थानों की उपलब्धता और अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों और नागरिकों के पिछड़े वर्ग के सदस्यों की मांग के अन्तर्गत आते हैं । संविधान के प्रवर्तन के शीघ्र पश्चात् मद्रास राज्य ने चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए सांप्रदायिक आधार पर स्थानों के आरक्षण का आदेश जारी किया । उच्चतम न्यायालय ने इस आदेश को मूल अधिकारों का अतिक्रमण करने वाला होने के कारण विखण्डित कर दिया और इस निवेदन को कि वह आदेश राज्य के नीति निर्देशक तत्वों

के कार्यान्वयन में था, यह विचार व्यक्त करते हुए अस्वीकार कर दिया कि "मूल अधिकारों से संबंधित अध्याय उल्लंघनीय है और उनका भाग 3 के समुचित अनुच्छेद में उपबंधित सीमा तक के सिवाय, किसी भी विधायी या कार्यपालिक कार्य या आदेश द्वारा प्रतिहास नहीं किया जा सकता। नीति निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों के अध्याय के अनुगत होना चाहिए और उसके सहायक के रूप में क्रियाशील होना चाहिए[7]। आरक्षण के प्रश्न पर आरक्षण करने की शक्ति, वह वर्ग जिसके पक्ष में आरक्षण किया गया था और आरक्षण का प्रतिशत दोनों ही के बारे में अनेक विवाद न्यायालयों में पहुंचे। विवाद की प्रकृति का आभास कराने के लिए, यहां उनमें से केवल कुछ विवादों का उल्लेख किया जा सकता है। जिनसे उनके संबंध में कार्यवाही करने के लिए अपेक्षित विशेषज्ञता उपदर्शित हो सकेगी।

2.8. अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के पक्ष में आरक्षण का प्रश्न कमोबेश प्रश्नातीत रहा है। किन्तु जब राज्य ने अनुच्छेद 15 (4) और 16 (4) के अधीन प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग करते हुए, सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों के नागरिकों के लिए शिक्षण संस्थाओं और लोक सेवाओं में स्थानों का आरक्षण करना शुरू किया तब उनके संबंध में चुनौतियां उभर कर सामने आईं। प्रारंभिक दृष्टिकोण यह था कि जाति वर्गीकरण को सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन का अधिचिह्न माना जाए। यह इस आधार पर प्रश्नगत किया गया कि किसी विशिष्ट वर्ग के सदस्यों के सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन का अवधारण करने के लिए केवल जाति को अवधारक तत्व नहीं माना जा सकता। न्यायालयों ने जाति को सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन का एकमात्र मानदण्ड मानने में खतरों का पुर्वानुमान किया।[8] यह सुझाव भी दिया गया था कि "साधन मानदण्ड" भी लागू किया जाना चाहिए चूंकि किसी जाति या वर्ग के पक्ष में आरक्षण करने से 'भुक्त योग्यता प्रतिस्पर्धा' के लिए उपलब्ध स्थानों में कमी होगी, न्यायालय ने यह सुझाव दिया कि सरकारों को पिछड़े वर्ग और दूसरों के दावों के बीच सन्तुलन स्थापित करना चाहिए।[9] इस संबंध में विचार करते समय कि नागरिकों की जाति का समूह उनका सामाजिक पिछड़ापन अभिनिश्चित करने में एक सुसंगत तथ्य हो सकता है, इस विचार धारा को लेकर अग्रसर होने में यह नहीं कहा जा सकता कि वह उस निमित्त एकमात्र या अभिभावी कसौटी है इसके अतिरिक्त "साधन मापदण्ड" को भी विधिमान्यतः लागू किया जा सकता है।[10] इस बात का ध्यान रखते हुए कि पद "जाति" अनुच्छेद 15(4) में प्रयुक्त नहीं हुआ है, और उसमें प्रयुक्त व्यापक पद अर्थात् "सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े नागरिकों के वर्ग" से उसका वैषम्य दर्शित करते हुए यह विचार व्यक्त किया गया था कि पद "पिछड़ा वर्ग" का प्रयोग "पिछड़ी जाति" या पिछड़ा समुदाय" के समानार्थी रूप में नहीं किया जा सकता। यह महसूस करते हुए कि किसी जाति के सदस्यों को केवल इस आधार पर पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता कि वे एक जाति विशिष्ट के हैं, यह बतलाया गया कि किसी विशिष्ट समय पर सदस्य सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक मूल्यों के मापदण्ड के अनुसार पिछड़े हुए हो सकते हैं और इसलिए वे सकारात्मक कार्यवाही के हकदार हैं। इस आधार पर जो विधि विकसित हुई, उसने उन समर्थकों को झकझोर दिया जो पिछड़ेपन का अवधारण करने के लिए केवल जाति को ही आधार माने जाने का प्रचार करते थे।[11] इससे थोड़ा पीछे हट कर यह विचार व्यक्त किया गया कि भारत में ऐसी अनेक जातियां हैं जो सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं और उनके अस्तित्व को नकारने का अर्थ है जीवन की वास्तविकताओं को नकार देना।[12]

आंध्र प्रदेश राज्य ने पिछड़ी जातियों की एक सूची बनाई, जिसमें न्यूनाधिक रूप से जाति को ही आधार बनाया गया। जब इसको चुनौती दी गई तो न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि जाति की छाप उस समूह का वर्णन मात्र है जो आयोग द्वारा, जिसने सूची बनाई थी, निर्दिष्ट कोई विशिष्ट उपजीविकाएं या वृत्तियां करते हैं। इस रिपोर्ट को देखने पर, न्यायालय ने कहा कि सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन का अवधारण करने में जाति ही कसौटी रही है।[13] चक्र पूरी तरह घूम चुका था जब यह कहा गया कि पिछड़ेपन का अवधारण करने के लिए केवल गरीबी ही कसौटी नहीं हो सकती क्योंकि भारत में जनसंख्या के एक छोटे प्रतिशत को छोड़कर लोग साधारणतः गरीब हैं कुछ अधिक और कुछ कम। "साधन मापदण्ड" हिल गया।[15] ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले व्यक्तियों के पक्ष में आरक्षण करने का प्रयास इस आधार पर असंवैधानिक ठहराया गया कि साधारणतः यह नहीं कहा जा सकता कि ग्रामीण क्षेत्र सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।[15] यह वादविवाद पूरी दृढ़ता से चलता रहा कि क्या जाति वर्गीकरण के आधार पर किया गया आरक्षण अनुच्छेद 15(4) की संवीक्षा पर टिक सकता है। यह अनुभव किया गया कि यह अवधारित करने की समस्या कि सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग कौन से हैं, निःसंदेह साधारण नहीं हैं। मध्यम मार्ग ग्रहण करने से, कारण न केवल विवाद चलता रहेगा और न्यायालयों में मुकदमें आते रहेंगे, यह विचार व्यक्त किया गया कि सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े होने का दावा करने वाले नागरिकों के समूह की जाति पर विचार करना असंगत नहीं है।[16] यदि सामाजिक असमानताओं के पूर्णतः समाप्त किए जाने का लक्ष्य रखा जाना था तो यह समझ लिया जाना चाहिए कि सामाजिक पिछड़ापन कारण नहीं है वरन् आर्थिक पिछड़ेपन का परिणाम है। यहां तक कि उन जातियों से, जिन्हें साधारणतः दलित वर्ग कहा जाता है, आने वाला व्यक्ति, यदि वह आर्थिक दृष्टि से संपन्न है, सामाजिक पिछड़ेपन से ग्रस्त नहीं होगा।

अतः अनुच्छेद 15(4) की वचनबद्धता की कार्य रूप में परिणति करने के लिए, आर्थिक असमानता को समाप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया जा सकता है।[17]

2.9. एक विभिन्न पहलू से संबंद्ध एक विवाद, किंतु जो आरक्षण के प्रश्न से संबंधित है, उत्पन्न हुआ। प्रश्न यह था कि क्या किसी राज्य में स्थित चिकित्सा महाविद्यालय या उच्च शिक्षा की किसी अन्य संस्था में प्रवेशों को संवैधानिक मूल्यों के अनुरूपतः केवल उन व्यक्तियों तक जिनका अधिवास उस राज्य में है अथवा जो उतने वर्षों तक, जो विनिर्दिष्ट किए जाएं, राज्य में निवास करते हैं, सीमित रखा जा सकता है या क्या उनके लिए प्रवेश हेतु कोई आरक्षण किया जा सकता है ताकि योग्यता का ध्यान रखे बिना, उन्हें उन व्यक्तियों पर पूर्वता प्राप्त हो सके जो राज्य अधिवास या निवास की अर्हता नहीं रखते। कुछ राज्य सरकारों द्वारा राज्य के भीतर अधिवास या निवास की अपेक्षा के आधार पर या विश्वविद्यालय या राज्य द्वारा संचालित अर्हताकारी परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले विद्यार्थियों के लिए, संस्थागत अधिवास के आधार पर और योग्यता को नजरअंदाज करते हुए जो थोक आरक्षण किए गए थे, उनकी निंदा करते हुए, न्यायालय ने यह ठहराया कि स्थानीय निवासियों को अधिमानता दी जाना उस स्थिति में अभिशाप नहीं हो सकता जबकि ऐसा आरक्षण आंशिक हो। सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, न्यायालय ने बाह्य सीमा 70 प्रतिशत निर्धारित की।[18] इस क्रम पर, न्याय मूल अधिकारों के पैरा 8 के खंड 5 पर उस वाद-विवाद का स्मरण करना दिलचस्प होगा जिसका प्रस्ताव संविधान सभा की सलाहकार समिति ने किया था। यह प्रतीत होगा कि स्वयं इन वाद-विवादों में "देशवासी सिद्धांत" के अंकुर विद्यमान थे। श्री महावीर त्यागी ने खंड 5 में इस आशय का संशोधन प्रस्तावित किया था जिससे राज्य सरकार को ऐसे नागरिकों को, जो उसके राज्य क्षेत्र के वास्तविक निवासी हैं, अन्य व्यक्तियों पर अधिमान देने का अधिकार मिलता है। उन्होंने कहा कि उनका वास्तविक आशय यह था कि जहां तक संभव हो सके, प्रदेश का प्रशासन ऐसे अधिकारियों और कर्मचारियों को चलाना चाहिए जो उस प्रदेश के निवासी हैं, अन्यथा प्रदेश के निवासी स्वशासन का लाभ नहीं उठा सकेंगे।[19] कुछ सीमा तक, यह विचार न्यायालय के निर्णय में ध्वनित हुआ जब उसने यह महसूस किया कि उन व्यक्तियों के पक्ष में, जो अधिवास को अर्हता रखते हैं 70% तक का आंशिक आरक्षण करना असंवैधानिक नहीं होगा।

2.10. प्रवेशों के लिए अधिमानता के प्रश्न पर इस हेतु से कि भावी विवादों का परिहार हो सके, व्यावहारिक सिद्धांत और विकासक्षम हल ढूंढने के न्यायालय के भागीरथ प्रयासों के पश्चात् भी सारा प्रयत्न या तो निरर्थक सिद्ध हुआ है या उसके छोर अभी भी खुले हुए हैं। 70% तक के आरक्षण का अनुमोदन करने के पश्चात्, न्यायालय ने यह निदेश दिया कि एम०बी०बी०एस० के लिए अनारक्षित 30% स्थानों के लिए और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के लिए 50% स्थानों के लिए अखिल भारतीय प्रवेश परीक्षा आयोजित की जानी चाहिए। यह निदेश दिया गया कि भारतीय चिकित्सा परिषद् या केन्द्रीय सरकार सभी चिकित्सा महाविद्यालयों के लिए अखिल भारत स्तर पर आधारित एक सामान्य परीक्षा आयोजित करे जिसके केन्द्र विभिन्न राज्यों में हों। इसके अतिरिक्त, यह निदेश भी दिया गया कि देश के विभिन्न चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश ऐसी परीक्षा में प्राप्त अंकों के तुलनात्मक मूल्यांकन के आधार पर उस अधिमानता को ध्यान में रखते हुए दिया जाना चाहिए जो विद्यार्थियों द्वारा किसी विशिष्ट राज्य या विश्वविद्यालय और विशेष अध्ययन या अध्ययनों के लिए व्यक्त की गई है। ये निदेश वर्ष 1984 में दिए गए थे। अतिरिक्त निदेश 1 मई, 1985 को[20] दिए गए थे यह निदेश दिया गया था कि यह निर्णय 1985-86 शैक्षणिक वर्ष से कार्यान्वित किया जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय चिकित्सा परिषद् और केन्द्रीय सरकार ने इस निर्णय को कार्यान्वित करने की कार्यवाही नहीं की। भारतीय चिकित्सा परिषद् को यह निदेश दिया गया था कि एम०बी०बी०एस० के लिए न्यूनतम 30% अनारक्षित स्थानों के लिए और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के लिए 50% स्थानों के लिए प्रवेश को विनियमित करने के लिए वह अखिल भारतीय प्रवेश परीक्षा आयोजित करने की सुनिश्चित स्कीम प्रस्तुत करे। इन निदेशों को कार्यान्वित करने में कठिनाइयां अनुभव की गई और मामला पुनः न्यायालय के समक्ष लाया गया[21]। न्यायालय के आदेश दिनांक 21 जुलाई, 1986 के अनुसार अतिरिक्त विस्तृत निदेश दिए। इस विधु को संक्षेप में समाप्त करते हुए, यह बताया जा सकता है कि यह स्कीम अभी तक कार्यान्वित नहीं की गई है।

2.11. कोई भी विश्वासपूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि पेंडुलम जिस प्रकार आगे पीछे झूम रहा है। और प्रभावित हितों की संदिग्धावस्था में रखा रहा है उससे विवादों को न्यायालयों में लाए जाने को निश्चित रूप से प्रोत्साहन मिलेगा। इन विवादों से कितनी तबाही होगी, इसे दो मामलों का उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। केरल राज्य में चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश का विनिश्चयन सामान्य परीक्षा में अर्जित योग्यता के आधार पर किया गया। शैक्षणिक वर्ष 1981-82 के लिए परीक्षा आयोजित की गई और प्रवेश उस परीक्षा में अर्जित योग्यता के आधार पर दिए गए। इसे केरल उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई और परीक्षा आयोजित करने और योग्यता प्रदान करने में अनेक कमजोरियां प्रकाश में आईं। केरल उच्च न्यायालय द्वारा इस संबंध में कुछ मार्गदर्शी सिद्धांत घोषित किए गए। यह मामला उच्चतम न्यायालय में आया जिसने इस संबंध

में एक फार्मूला का सुझाव दिया, जिसमें अन्य बातों के साथ यह उपबंध किया गया कि 50% परीक्षक राज्य के बाहर के होंगे। केन्द्रीकृत मूल्यांकन के आधार पर प्रवेश परीक्षा का परिणाम एक निश्चित तारीख तक घोषित किया जाएगा और प्रवेश ऐसे परिणाम के आधार पर निश्चित ही उन आरक्षणों के अध्यधीन रहते हुए दिए जाएंगे जो पूर्व में किए जा चुके हैं, इस दृष्टिकोण से यह प्रकट होता है कि स्थानीय परीक्षकों पर पूरी तरह से विश्वास नहीं किया जा सका। इस प्रकार परीक्षा के परिणामों में अनुचित तरीके अपनाए जाने का दोष विवक्षित रूप से स्वीकार कर लिया गया। न्यायालय का आदेश 28 फरवरी, 1982 को आख्यापित किया गया। परीक्षा 27 और 28 फरवरी, 1982 को होनी थी। परीक्षा का परिणाम 2 मार्च, 1982 तक या उसके पूर्व घोषित किया जाना था। इसके पश्चात्, प्रवेश योग्यता के आधार पर, आरक्षण को ध्यान में रखते हुए किए जाने थे। इसका शुद्ध परिणाम यह हुआ कि 1981-82 के प्रथम दो सेमेस्टर किसी विद्यार्थी को उपलब्ध नहीं हो सके। विद्यार्थियों का एक वर्ष बेकार गया। राष्ट्र को आने वाले डाक्टरों की सेवाओं से एक वर्ष के लिए वंचित होना पड़ा। विश्वविद्यालय की विश्वसनीयता को धक्का लगा और फीस का नुकसान हुआ। ये अभिनिश्चित की जाने वाली हानियां हैं। दूसरा दृष्टांत और भी स्पष्ट है। गुजरात में उन विद्यार्थियों द्वारा, जो 1980-81 में पी०टी०सी० पाठ्यक्रम में प्रवेश प्राप्त करने में असफल रहे थे, उसे गुजरात उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई। वे विद्यार्थी, जो प्रवेश पाने में असफल रहे थे याचिकाकर्ता थे। गुजरात राज्य प्रत्यर्थी था। उन विद्यार्थियों को, जिन्होंने अविधिमान्य और अवैध आधारों पर प्रवेश प्राप्त किया था, प्रत्यर्थी के रूप में पक्षकार नहीं बनाया गया। उच्च न्यायालय ने इन प्रवेशों को अविधिमान्य और अवैध होने से विखंडित कर दिया जिन्होंने प्रवेश प्राप्त कर लिया था, उनने यह प्रश्नगत करते हुए कि उन्हें सुने जाने के अवसर से वंचित रखा गया था क्योंकि उन्हें पूर्ववर्ती याचिका में प्रत्यर्थियों के रूप में सम्मिलित नहीं किया गया था और वे न्यायालय के आदेश से प्रत्यक्षतः और प्रतिकूल प्रभावित हुए थे, पृथक याचिकाएं प्रस्तुत कीं। उन्हें सुना गया और उनकी याचिकाएं खारिज कर दी गईं। और वे उच्चतम न्यायालय में आए।[23] उस समय तक एक पूरा वर्ष समाप्त हो चुका था और दो वर्षीय पी०टी०सी० पाठ्यक्रम के एक वर्ष की समाप्ति पर परीक्षा होनी थी। न्यायालय के अंतरिम आदेशों के अधीन उन्हें परीक्षा में बैठने की अनुमति दी गई। अन्ततः यद्यपि यह ठहराया गया कि उनके प्रवेश अवैध और अविधिमान्य थे, यह कहने के सिवाय कुछ नहीं किया गया कि उन्हें द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए अधिमानता न दी जाए।

2.12. शिक्षा के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले विवादों के अन्य वर्गों की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए विषय से थोड़ा हटते हुए, यह कहा जा सकता है कि ये विवाद सरकार या विश्वविद्यालयों द्वारा लिए गए नीति विषयकर निर्णयों से उत्पन्न हुए। प्रवेश देने में स्वैच्छिकता के आरोप को विफल करने के लिए, प्रवेश से संबंधित प्राधिकारियों को प्रवेश चाहने वाले सभी व्यक्तियों के लिए लागू होने वाला कोई वस्तुपरक मानदण्ड विहित करना होगा। प्रवेश चाहने वालों को मानदण्ड की पूर्ति करने के लिए अवसर मिलना चाहिए और उनकी पहुंच उस प्रणाली तक होनी चाहिए जिसके द्वारा मानदण्ड का समाधान किया जाता है। जब प्रवेश चाहने वाले आवेदक अन्य विश्वविद्यालयों से आते हैं तब उनकी योग्यता का निर्धारण प्रत्येक विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित अर्हतकारी परीक्षा में उनकी उपलब्धि के प्रति निर्देश से नहीं किया जा सकता। अतः सामान्य परीक्षा की योजना बनाई जानी चाहिए थी। अधिक वस्तुपरक होने की दृष्टि से, उसके लिए लिखित परीक्षा होनी चाहिए। ऐसी परीक्षा विभिन्न विद्याशाखाओं के लिए विहित की गई है। किन्हीं अवसरों पर सरकार ने और कभी-कभी विश्वविद्यालयों ने मौखिक परीक्षा भी आयोजित की और अंतिम योग्यता सूची इन दोनों परीक्षाओं में प्राप्त कुल अंकों के अनुसार तैयार की गई। मौखिक परीक्षा में व्यक्तिपरकता के दुर्गुण से ग्रस्त होती है और उस पर भाई-भतीजावाद और पक्षपात के आरोप लगाए जाते हैं। पक्षपात अपने अनेक रूपों में प्रकट होता है। ऐसे अभ्यर्थी से, जो प्रिय है, बहुत सरल प्रश्न पूछे जा सकते हैं। कुछ अंश व्यक्तित्व मूल्यांकन के लिए रखे जाते हैं। एक बात जो किसी एक को अच्छी लग सकती है, वह दूसरों को अच्छी नहीं लग सकती। इस प्रकार इन मामलों में बहुत अधिक व्यक्तिपरकता का तत्व होता है। जिस क्षण मौखिक परीक्षा लागू की गई, उसी क्षण उसे न्यायालयों में चुनौती दी गई। मैसूर राज्य की सरकार ने यह विहित किया कि वैकल्पिक विषयों की परीक्षा के लिए उन अधिकतम अंकों के, जो इंजीनियरिंग और मेडिकल महाविद्यालयों में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए विचार में लिए जाते हैं, 25% अंक साक्षात्कार अंकों के रूप में नियत किए जाएंगे और साथ ही साथ साक्षात्कार में अंक दिए जाने के मानदण्ड भी निर्धारित किए। भारत के उच्चतम न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए गए संकथनों में एक संकथन यह भी था कि साक्षात्कार और मौखिक परीक्षा द्वारा चयन की पद्धति अवैध है क्योंकि वह साक्षात्कार लेने वाले व्यक्तियों को स्वैच्छिकता से कार्य करने और परिणामों में हेरफेर करने का अवसर प्रदान करती है और इस प्रकार वह संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करती है। यह संकथन नामंजूर कर दिया गया।[24] इस चुनौती ने बाद में एक अलग रूप ले लिया। विवाद का मूल आधार साक्षात्कार के लिए आरक्षित कुल अंक थे। दूसरे शब्दों में, मूल संकथन साक्षात्कार न किए जाने से लेकर साक्षात्कार के लिए रखे जाने वाले कुल अंकों के संबंध में थे। अध्योन्त अंतर्निहित आशंका मौखिक परीक्षा की नितान्त व्यक्तिपरकता थी। इसे यह कहते हुए दर्शित किया गया कि यदि साक्षात्कार लिए जाने वाले

अनेक अभ्यर्थी हैं और प्रत्येक को मुश्किल से तीन मिनिट दिए जाते हैं तो वह समझ से परे है कि क्या मूल्यांकन या निर्धारण किया जा सकता है। तमिलनाडु राज्य ने सुसंगत वर्ष में, साक्षात्कार के लिए 75 अंक रखे। यह दर्शित करने का प्रयत्न किया गया कि वे अभ्यर्थी, जिनका सम्पादन लिखित परीक्षा में अच्छा था, वे मौखिक परीक्षा में बहुत पीछे रह गए और इसी प्रकार इसका विपर्यय। यद्यपि यह आशंका व्यक्त करते हुए कि मौखिक परीक्षा के लिए रखे गए 75 अंक अधिक थे, यह कहा गया कि सरकार के लिए इस प्रश्न पर पुनर्विचार करना उचित होगा, न्यायालय ने चयन को इस आधार पर अविधिमान्य नहीं किया।[25] ऐसी प्रत्येक उक्ति से मामला और उलझता चला गया। यह पुनरावृत्ति करते हुए कि राज्य को साक्षात्कार परीक्षा विहित करने की शक्ति है, और यह विचार व्यक्त करते हुए कि उसे इतना दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता कि प्रवेश के लिए अभ्यर्थियों का लिखित परीक्षा के साथ मौखिक साक्षात्कार के आधार पर चयन स्वैच्छिक नहीं माना जाए, न्यायालय ने यह मत अवश्य व्यक्त किया कि मौखिक परीक्षा के लिए 15% से अधिक अंक रखा जाना स्वैच्छिक और अयुक्तियुक्त होगा और उसे संवैधानिक रूप से अविधिमान्य होने के कारण विखण्डित किया जा सकता है।[26] पूर्ववर्ती इस आलोचना की पुनरावृत्ति करते हुए कि मौखिक परीक्षा ढोंग है, इस विवाद में एक नया अवयव यह कहते हुए जोड़ा गया कि न्यायालय पक्षपातिता का अभिनिश्चय नहीं कर पाएगा। क्योंकि क्या प्रश्न पूछे गए थे और उनके क्या उत्तर दिए गए थे, यह अभिलिखित नहीं किया जाता और इसलिए, भले ही अयुक्त लाभ दिया गया हो, वह उसकी संवीक्षा से अपवर्जित हो जाता है।[27] जम्मू और कश्मीर राज्य को वर्ष दर वर्ष बार-बार न्यायालय में घसीटा गया और लगभग प्रत्येक बार न्यायालय ने उसके द्वारा दिए गए प्रवेशों में हस्तक्षेप किया। अतः शैक्षणिक वर्ष 1982-83 के लिए यह निदेश दिया गया कि क्षेत्रीय इंजीनियरिंग महाविद्यालयों में प्रवेशों का विनिश्चय करते समय, समिति को प्रश्न पहले से ही तैयार करके उन्हें लिफाफों में बंद कर देना चाहिए, दिए गए उत्तरों का प्राथमिक साक्ष्य परिरक्षित करने के लिए कैसेट रिकार्ड रखना चाहिए और अन्य अभिलेख भी रखे जाने चाहिए। इसके पश्चात् भी प्रवेशों को प्रश्नगत किया गया।[28] उच्च न्यायालय ने राज्यों से उत्तर को रिकार्ड करने वाले कैसेट और पहले से ही तैयार किए गए प्रश्न पेश करने की अपेक्षा की। अभिलेख न्यायालय के निरीक्षण के लिए पेश किए गए। न्यायालय इस बात से संतुष्ट था कि यदि प्रश्न पूर्व में ही तैयार कर लिए जाते हैं और अभ्यर्थी को लिफाफा उठाने के लिए कहा जाता है, तो भेदभावपूर्ण और अनुचित व्यवहार के आरोप से बचा जा सकता है। अभ्यर्थी की आवाज में दिए गए उत्तरों के अभिलेख से मामला विवाद से परे हो जाएगा। किन्तु इसका अंदाजा लगाया जा सकता है कि इन विवादों में कितना समय, पैसा और शक्ति लगाई जाती है तथा कितने परिहार्य मुकदमे चलाए जाते हैं। 2.13 शिक्षा के क्षेत्र में एक सर्वथा भिन्न प्रकार का विवाद तब उत्पन्न हो जाता है जब अनुभव और अर्हता की, जहां कहीं भी वे अनिवार्य होने के रूप में विहित की जाती हैं, पर्याप्तता का अवधारण किया जाता है। चिकित्सा के क्षेत्र में स्नातकोत्तर अर्हताएं रखने वाले दो व्यक्तियों का एक राज्य के लोक सेवा आयोग द्वारा चयन किया गया। उनके चयन को इस आधार पर प्रश्नगत किया गया कि डाक्टोरेट के पश्चात् किन्हीं विदेशी अस्पतालों में आज अनुभव से विहित अपेक्षा की पूर्ति नहीं होगी चयनों को उच्च न्यायालय ने रिट याचिका में संसूच कर दिया। उच्चतम न्यायालय ने चयनों को पुनर्स्थापित करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि न्यायालय को उन पदों पर, जिनके लिए तकनीकी अनुभव अपेक्षित होता है, लोक सेवा आयोग द्वारा, उस क्षेत्र के विशेषज्ञों की सहायता से तथा भारतीय चिकित्सा परिषद् द्वारा बनाए गए विनियमों के तहत किए गए चयन के आधार पर की गई नियुक्ति में हस्तक्षेप करने के सन्ध्यालोक को दृष्टिगत रखना चाहिए। जब इस प्रकार आयोग द्वारा तकनीकी अनुभव और विशेषीकृत क्षेत्र में उच्च अर्हताएं रखने वाले विशेषज्ञों की, जो तकनीकी विषयों में अध्ययनअनुसंधान के अनुभव की छानबीन करते हैं, सहायता और सलाह से चयन किया जाता है तब न्यायालय को विशेषज्ञों द्वारा व्यक्त की गई राय में हस्तक्षेप करने के लिए तत्पर नहीं होना चाहिए जब तक कि उनके विरुद्ध असद्भाव का आरोप न हो।[29]

2.14. जबकि चिकित्सा और इंजीनियरिंग महाविद्यालयों में प्रवेश दिए जाने या प्रवेश देने से इंकार किए जाने को प्रश्नगत करने वाले अनेक मामले न्यायालय में आए, यहां कुछ निर्देशात्मक मामलों का उल्लेख मामलों के निपटारे में होने वाले असामान्य विलंब को दर्शाने की दृष्टि से किया जा रहा है। जिसका परिणाम कभी कभी अपात्र व्यक्ति द्वारा अनुचित लाभ प्राप्त करने में होता है। इसमें जिस विषय का विवेचन किया गया है, उसका सविस्तार वर्णन किए बिना वह पहला मामला, जिसकी ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है (जिसके निपटारे में अत्यधिक विलम्ब हुआ था) एक ऐसा मामला था जिसमें एक विशनकुमार अग्रवाल ने 1 अक्तूबर 1974 को एम०डी० (फिजियालाजी) में प्रवेश के लिए आवेदन किया था और उसका परिणाम इस आधार पर घोषित नहीं किया गया था कि वह प्रवेश के लिए अपात्र था। अन्ततः अक्तूबर, 1983 में वह अपना परिणाम घोषित करा पाया और उसे डिग्री प्रदान की गई और इन नौ वर्षों में वह बिना डिग्री के रहा जिसे कि वह अर्जित कर चुका था और जो उसे प्रदान नहीं की गई थी और वह उसका लाभ नहीं उठा सका।[30] कुछ विद्यार्थियों को, जिन्होंने जुलाई, 1980 में कश्मीर विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में प्रवेश का दावा किया था अगस्त, 1984 में यह कहा गया कि वे उसके लिए पात्र नहीं थे।[31] 1981 में कुछ विद्यार्थियों ने स्नातकोत्तर चिकित्सा पाठ्यक्रम

में प्रवेश के लिए आवेदन किया और प्रवेश न मिलने पर उच्च न्यायालय में अर्जी दायर की और अनंतिम प्रवेश के लिए अन्तर्वर्ती अनुतोष प्राप्त किया। जब अन्ततः 1985 में अर्जियां सुनवाई के लिए उच्चतम न्यायालय के समक्ष आई तब न्यायालय ने उसके प्रवेश की वैधता के प्रश्न में हस्तक्षेप करने से केवल इस आधार पर असहमति प्रकट की कि इस अन्तराल में वे अपना अध्ययन पूरा कर चुके थे। तदनुसार न्यायालय ने यह निदेश दिया कि उन याचिकाकारों के अनंतिम प्रवेश को, जिन्होंने अनंतिम अनुतोष के रूप में अन्तरिम अनुतोष प्राप्त किया था। पारिणामिक फायदों का, जिसके अन्तर्गत डिग्री प्राप्त करने के लिए परीक्षा में बैठना भी है, हकदार बनाने वाला अंतिम विधिमान्य प्रवेश माना जाए।[32] इस शृंखला में अंतिम मामला वह है जिसमें न्यायालय इस सकारात्मक निष्कर्ष पर पहुंचा कि याचिकाकर्ता प्रवेश के पात्र नहीं थे किन्तु चूंकि उन्हें न्यायालय के अन्तर्वर्ती आदेशों के अधीन प्रवेश दिया गया था, न्यायालय ने यह विचार व्यक्त करते हुए कि उन याचिकाकर्ता को, जो अन्यथा अपात्र थे, इंजीनियरिंग महाविद्यालय के प्राचार्य के दोष के कारण हानि नहीं उठाना चाहिए, याचिकाकर्ताओं को उन संबंधित इंजीनियरिंग महाविद्यालयों में, जिनमें उन्हें प्रवेश दिया गया था, अपना पाठ्यक्रम पूरा करने की अनुज्ञा दी। प्रवेश शैक्षणिक वर्ष 1981-82 में चाहा गया था और मामला अंतिम रूप से मई, 1986 में निपटाया गया।[33] ऊपर जिन मामलों का उल्लेख किया गया है वे मात्र दृष्टान्तात्मक हैं, सम्पूर्ण नहीं।

2.15. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, सोसाइटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकृत एक सोसाइटी है। वह संविधान के अनुच्छेद 12 में प्रयुक्त पद "राज्य" में समाहित है। उसकी दो समनुषंगी शाखाएं, अर्थात् भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान और भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान की प्रास्थिति समझे गए विश्वविद्यालय की है। उसके अनेक गुप्त भेद हैं जो डा० वी० एच० शाह की आत्महत्या से उद्घाटित होते हैं जिसके परिणामस्वरूप डा० जस्टिस पी०बी० गजेन्द्रगडकर की अध्यक्षता में एक समिति उसके कार्यकलापों के अन्वेषण के लिए नियुक्त की गई। इसके पश्चात् भी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ, हालांकि उसने उसे पुनर्गठित किए जाने को सम्मिलित करते हुए अनेक सिफारिशें की। मा०कृ०अ०प० और उससे संबद्ध भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान के संकाय के सदस्यों द्वारा अनेक शिकायतें की गई। विवाद 1972 से प्रारंभ होकर अनेक वर्षों तक चलता रहा। भा०कृ०अ०प० द्वारा किए गए पूर्णतः तुच्छ आक्षेपों के कारण मामले के निपटारे में अत्यधिक विलम्ब हुआ। अन्ततः यह पाया गया कि मा०कृ०अ०प० द्वारा लिया गया आधार अनुचित और असंगत था और 1983 में अनुतोष प्रदान किया गया।[34] उच्च प्रतिभावान कृषि वैज्ञानिकों को एक दशक से अधिक कालावधि तक अन्याय, द्वेष और उत्पीड़न सहन करना पड़ा। कृषि राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और विवादों के शीघ्र निराकरण के लिए किसी तन्त्र के अभाव से उत्पन्न होने वाली इस शोचनीय स्थिति के कारण राष्ट्रीय हानि होना संभाव्य है।

2.16. अभी हाल में ही देश को विश्वविद्यालयीन शिक्षकों और विश्वविद्यालयों से संबद्ध महाविद्यालयों के शिक्षकों की दीर्घकालीन हड़ताल का सामना करना पड़ा। विवाद उनके लिए प्रस्तावित पुनरीक्षित वेतनमानों से संबंधित था। हड़ताल दो मास से भी अधिक समय तक चली। वह शैक्षणिक वर्ष प्रारंभ होने पर की गई थी। क्या यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे विवादों के लिए एक ऐसे न्यायाधिकरण की व्यवस्था की जाए जिसका आश्रय सीधी कार्यवाही करने के पूर्व किया जा सके।

2.17. जिस दिशा में हवा बह रही है उसका अभिनिश्चयन तेलगू विश्वविद्यालय अधिनियम, 1985 (अधिनियम क्र० 27 सन् 1985) की धारा 1 (1) के प्रति निर्देश से किया जा सकता है जिसमें यह उपबंध किया गया है कि आंध्र प्रदेश का मुख्यमंत्री विश्वविद्यालय का कुलाधिपति होगा। कुलाधिपति को (1) कुलाधिपति के नामनिर्देशिती, (2) सरकार का नामनिर्देशिती, और (3) सिन्डीकेट के नामनिर्देशिती से मिलकर बनने वाली समिति (जिसका प्रधान मुख्य मंत्री होगा) द्वारा बनाए गए पैनल में से कुलपति की नियुक्ति करने की शक्ति प्रदत्त की गई है। अविवादास्पद रूप से, मुख्य मन्त्री यह विनिश्चत करेगा कि कुलपति कौन होगा।

2.18. विश्वविद्यालय को, यद्यपि उससे स्वशासी निकाय होने की आशा की जाती है, वित्तीय स्वायत्तता के अभाव में केवल कागजी स्वायत्तता प्राप्त है। एक राज्य में एक घटना घटित हुई जहां विश्वविद्यालय का अनुदान रिलीज नहीं किया गया यद्यपि उसके लिए पूर्व शर्त, अर्थात् परीक्षा फीस संगृहीत करने की शर्त की पूरी तरह से पूर्ति कर दी गई थी। यह कहा जाता है कि कुलपति को यह मामला न्यायालय में ले जाने की धमकी देनी पड़ी। इससे विश्वविद्यालयों पर राज्य के नियंत्रण का महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा होता है।

2.19. विश्वविद्यालय के और संबद्ध महाविद्यालयों के विद्यार्थियों और उसके संकाय के सदस्यों पर अनुशासन की अधिकारिता एक दूसरा ऐसा क्षेत्र है जहां अनेक विवाद उत्पन्न होते हैं। गुजरात के एक मामले में, जब इन्वीजिलेटर ने एक परीक्षार्थी को अनुचित साधनों का प्रयोग करते हुए पकड़ा और उसे परीक्षा हाल से भगा दिया तो अगले दिन वह न्यायालय के रोक आदेश के साथ उपस्थित हुआ जिसमें परीक्षा केन्द्र के प्राधिकारियों पर उसे परीक्षा में बैठने से रोकने के लिए अवरोध लगाया गया था।

2.20. एक कुलपति ने, जिसने राजधानी के प्रमुख विश्वविद्यालय का पद छोड़ दिया था, अनौपचारिक बातचीत में एक घटना का वर्णन किया जो पुनः स्मरण करने

योग्य है। उन्होंने कहा कि उन्होंने संकाय के एक सदस्य के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की और वह न्यायालय में गया और व्यादेश ले आया। उनके अनुसार, मामले को जानबूझकर विलंबित किया जा रहा है ताकि अपचारी अधिकारी कुलपति की पदावधि समाप्त होने की प्रतीक्षा कर सके और फिर अनुचित समझौता करने का प्रयास कर सके। उनकी पीड़ा इस प्रकार के रोक आदेशों के प्रति थी।

2.21. अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति ने आयोग को मोहम्मद अब्बास जमीर द्वारा फाइल की गई रिट याचिका की जानकारी दी है जिन्हें, यद्यपि वे कुलपति के अनुसार, परीक्षा में बैठने के पात्र नहीं थे, अन्तरिम आदेश द्वारा परीक्षा में बैठने की अनुज्ञा दी गई। विश्वविद्यालय के अनुसार, मो० अब्बास जमीर को विश्वविद्यालय ने अनुशासनात्मक गतिविधियों में संलग्न होने, अराजकता उत्पन्न करने, विश्वविद्यालय के नियमों और विनियमों के अतिक्रमण में शिक्षकों पर हमला करने के कारण 5 जनवरी, 1981 को चार वर्ष की कालावधि के लिए विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया गया था। इसके पश्चात्, उसने अनेक याचिकाएं फाइल कीं और अन्ततः परीक्षा में बैठने में सफल हो गया।[35]

2.22. प्रबंध निकायों द्वारा महाविद्यालय संस्थानों के कुप्रबन्ध के अनेक मामले बहुधा सामने आते हैं। विश्वविद्यालयों की स्थापना करने वाले कानून में, ऐसी संबद्ध संस्थाओं पर पर्यवेक्षी अधिकारिता विश्वविद्यालय को प्रदान करने के लिए उपबंध किया जाता है। अन्य शक्तियों के साथ-साथ, कुप्रबन्ध का सबूत मिलने पर शासी निकाय गठित और पुनर्गठित करने की शक्ति भी विश्वविद्यालय को प्रदान की जाती है। बिहार विश्वविद्यालय ने राजेन्द्र प्रसाद महाविद्यालय, छप्रा के शासी निकाय का पुनर्गठन किए जाने का निदेश दिया। इसे चुनौती दी गई। उच्चतम न्यायालय ने, विश्वविद्यालय के आदेश को अपास्त करते हुए यह मत व्यक्त किया कि वे स्वशासी निकाय, जो महाविद्यालय स्थापित करते हैं और उसके द्वारा उच्च शिक्षा की प्रगति में सहायता करते हैं, वे साधारणतः हितरहित व्यक्तियों द्वारा चलाए जाते हैं और इस बात का कुछ महत्व तो है ही कि ऐसे निकायों की स्वायत्तता का असम्यक् रूप से ह्रास न किया जाए। यह स्वीकार किया गया कि विश्वविद्यालय, संबद्धता प्रदान करते समय शर्तें अधिरोपित कर सकता है जो विश्वविद्यालय को पर्यवेक्षण की शक्तियों का प्रयोग करने में समर्थ बनाएंगी, फिर भी जब कोई विवाद उद्भूत होता है, विश्वविद्यालय को महाविद्यालयों की स्वायत्तता का आदर करना चाहिए और उसका सामंजस्य विश्वविद्यालय की उन पर्यवेक्षी शक्तियों के साथ करना चाहिए जिनका प्रयोग संबद्ध महाविद्यालय के कार्यकरण को दक्ष और प्रगतिशील बनाने के लिए करना आशयित है।[36] किन्तु जब अल्पसंख्यक संस्थाओं के प्रमाणित कुप्रबन्ध में हस्तक्षेप करने का अवसर आया, न्यायालय यह स्वीकार करते हुए कि अल्पसंख्यक संस्थाओं के प्रबंध के अधिकार में कुप्रबंध करने का अधिकार अन्तर्निहित नहीं है, हस्तक्षेप करने में अनिच्छा व्यक्त की। अल्पसंख्यक संस्थाओं में शिक्षकों की नियुक्ति और अधिवास को विनियमित करने के प्रयोजन के लिए विश्वविद्यालय द्वारा विरचित विनियमनकारी उपायों को अल्पसंख्यक संस्था की स्वायत्तता में हस्तक्षेप करने वाला ठहराया गया।[37] न्यायालय की अहस्तक्षेपी अभिवृत्ति इस सीमा तक गई कि पारिश्रमिक के मामले में अल्पसंख्यक संस्थाओं के शिक्षकों और कर्मचारियों को अन्य शिक्षण संस्थाओं में वैसी ही स्थिति वाले अपने प्रतिस्थानी व्यक्तियों के साथ समानता से वंचित रखा गया। हाल ही में, न्यायालय ने अल्पसंख्यक संस्थाओं पर से आवरण हटाया और उसके कर्मचारियों को ऐसे फायदे यह निदेश देते हुए प्रदान किए कि उनके विरुद्ध भेदभाव नहीं किया जा सकता और समान काम के लिए समान वेतन का सिद्धान्त उनको भी समान रूप से लागू होगा।[38]

2.23. अल्पसंख्यक संस्था होने का दावा करने वाली संस्थाओं की प्रास्थिति के अवधारण के लिए लागू किया जाने वाला मापदण्ड समान रूप से लागू नहीं किया गया है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को इस आधार पर अल्पसंख्यक संस्था नहीं माना गया था कि वह संसदीय कानून के अधीन अस्तित्व में लाई गई थी।[39]

2.24 एक कुलपति ने, छह वर्ष के लिए कार्य मिलने की आशा में, यद्यपि कानून ने तीन वर्ष का कार्यकाल विहित किया है, राज्य विधान सभा से त्यागपत्र दे दिया था और उसे रोहतक स्थित महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त किया गया था। चूंकि कार्यकाल का नवीकरण नहीं किया जा रहा था, उसने यह समादेश जारी किए जाने के लिए न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की कि विश्वविद्यालय को उसके कार्यकाल का नवीकरण करने के लिए अपेक्षित किया जाए। इसी बीच, राज्य सरकार ने विश्वविद्यालय के कुलपति को आयु पैंसठ वर्ष नियत करते हुए एक अध्यादेश जारी किया। उसने अध्यादेश की विधिमान्यता को भी चुनौती दी। न्यायालय ने अपना निष्कर्ष वचन विबंध (प्रामीसरी एस्टोपेल) के सिद्धान्त पर आधारित करते हुए, विश्वविद्यालय को कार्यकाल का नवीकरण करने का निदेश दिया।[41]

2.25. अभी हाल ही में हरियाणा सरकार और कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के कुलपति के बीच एक विवाद उत्पन्न हुआ। कुलपति पूरे वेतन और चिकित्सा व्यय की प्रतिपूर्ति सहित चिकित्सीय अवकाश पर जाना चाहते थे। इसे कुलाधिपति द्वारा, जो राज्य का राज्यपाल ही था, नामंजूर कर दिया गया। क्या कुलपति को कोई न्यायाधिकरण उपलब्ध है जहां वह अनुतोष प्राप्त कर सकता है।[42]

2.26. इस प्रकार यह सुस्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा के क्षेत्र के विभिन्न प्रकार के अनेक विवाद न्यायालय में आते हैं और दीर्घ काल तक उन पर कोई कार्यवाही नहीं हो पाती जिससे शिक्षण कार्यक्रम अव्यवस्थित हो जाता है और कभी-कभी शिक्षा भवनों में विक्षुब्ध पर्यावरण उत्पन्न हो जाता है। तथापि, अपरिहार्य निष्कर्ष यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले विवादों की संख्या बहुत अधिक है। उनका निराकरण समय पर नहीं हो पाता। विलंब के कारण अनेक व्यक्तियों को कष्ट और कठिनाई होती है। पद्धति रुग्ण हो जाती है और, जैसा पूर्व में बताया जा चुका है, उससे राष्ट्रीय हानि होती है। अतः शैक्षिक विवादों के शीघ्र निपटारे के तर्क को किसी और औचित्य समर्थन की आवश्यकता नहीं है।

अध्याय 3

आधार-सामग्री का संग्रहण और उसकी अपर्याप्तता

3.1. प्रारम्भ में ही यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि न्यायालयों में विभिन्न स्तरों पर लंबित मामलों की संख्या, मुकदमों की प्रक्रिया में लगे समय, मुकदमे चलाने के खर्चों और शिक्षण संस्थाओं पर पड़ने वाले उसके सर्वोपरि प्रभाव से संबंधित आधार-सामग्री एकत्रित करने का प्रयास अत्यधिक दुरूह कार्य है। भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ, नई दिल्ली से यह आधार सामग्री संग्रहित करके उसे विधि-आयोग को उसके विचारार्थ प्रस्तुत करने का दुर्भर कार्य अपने ऊपर लिया था। आयोग को उस जानकारी की प्रतीक्षा है। किन्तु वह विराम स्थिति में नहीं रह सकता। उन मुकदमों की विशालता को दृष्टिगत रखते हुए, जिनका विश्वविद्यालयों को सामना करना पड़ता है, विश्वविद्यालय की स्वायत्तता पर मुकदमों के प्रभाव का निर्धारण करने के लिए किए गए अध्ययन से कुछ जानकारी मिलती है। इस अध्ययन के अन्तर्गत चार विश्वविद्यालय हैं। 1969 और 1980 के दौरान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय को 124 रिट याचिकाओं, 15 अपीलों और 56 सिविल वादों में पक्षकार बनाया गया। केरल विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार के अनुसार, विश्वविद्यालय की कार्रवाई को चुनौती देने वाले लगभग 70 से 100 मामले वर्तमान में केरल उच्च न्यायालय के समक्ष हैं। मद्रास उच्च न्यायालय के अधिवक्ता संघ ने यह अनुमान लगाया है कि विश्वविद्यालयों को अन्तर्ग्रस्त करने वाले लगभग 20 मामले प्रति वर्ष उच्च न्यायालय में आते हैं। विश्वविद्यालय के परामर्श एटर्नी द्वारा जो आंकड़े दिए गए, वे 1981 से पूर्व की चार वर्ष की कालावधि के दौरान लगभग 300 संभावित और वास्तविक कानूनी मामले थे। पूना विश्वविद्यालय के पास 1980 के अन्त तक लगभग 60 मामले थे। ये आंकड़े उच्च न्यायालयों के समक्ष लाए गए मामलों से संबंधित हैं। किन्तु अधीनस्थ न्यायालयों में भी अनेक मामले फाइल किए जाते हैं। जिनके बारे में जानकारी एकत्र करना कठिन है।

3.2. कुछ विश्वविद्यालयों द्वारा मुकदमों में उपगत किए गए व्यय के संबंध में कुछ स्वल्प सामग्री उपलब्ध है। दृष्टान्त स्वरूप, पूना विश्वविद्यालय ने 1975 के अपने बजट में वकीलों को देय फीस के व्यय के रूप में 5,000.00 रुपए की रकम का प्रावधान किया था। 1981 तक यह प्रावधान 20,000 रुपए तक बढ़ाना पड़ा। वास्तव में, यह बताया गया कि एक मामले में 30,000 रुपए की रकम बम्बई स्थित वकीलों की एक फर्म को देनी पड़ी। केरल विश्वविद्यालय को वित्तीय वर्ष 1981 समाप्त होने के पूर्व ही, वकीलों को देय फीस के लिए 30,000 रुपए के बजट आबंटन से अधिक व्यय करना पड़ा। इस प्रकार, मुकदमों के अनुत्पादक खर्च के लिए विश्वविद्यालय के दुर्लभ वित्तीय साधनों को आबंटित करने के लिए निरन्तर संघर्ष चल रहा है। विश्वविद्यालय के प्रशासन का अहित करके, विश्वविद्यालय के पदाधिकारियों द्वारा न्यायालयों में प्रतीक्षा करने में लगाए गए समय का निर्धारण करना मुश्किल है। पर्याप्त समय पूर्व, कुलपतियों के एक सम्मेलन में यह गंभीर व्यथा व्यक्त की गई थी कि बढ़ती हुई मुकदमेबाजी के कारण कैम्पसों में अनुशासन बनाए रखने की उनकी क्षमता में ह्रास हुआ है।[44]

अध्याय 4

विश्वविद्यालय स्तर पर विवादों के निराकरण के लिए विद्यमान आधारिक संरचना

4.1. सरकार और कुलपति के साथ विवादों के सिवाय, विश्वविद्यालयों और उनके कर्मचारियों के बीच, विश्वविद्यालयों और शिक्षण संकाय के उनके कर्मचारियों के बीच, विश्वविद्यालयों और विद्यार्थियों के बीच अनेक विवाद उत्पन्न हुए। जब विश्वविद्यालयों और उनके कर्मचारियों के बीच विवाद उत्पन्न हुए तब विवादों के निराकरण के लिए श्रम विधियों के अधीन सुदृढ़ व्यवस्था खोजने का प्रयत्न किया गया। औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 10 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए विश्वविद्यालयों और उनके कर्मचारियों के बीच के विवादों के बारे में निर्देश करने की सरकार की शक्ति को प्रश्नगत करते हुए यह संकथन किया गया कि विश्वविद्यालयों के क्रियाकलापों की धारा 2 (जे) में यथापरिभाषित "पद उद्योग" में समाहित नहीं माना जा सकता और, इसलिए, निर्देश सक्षमता से परे था। यह संकथन न्यायालयों को स्वीकार किए जाने योग्य प्रतीत हुआ क्योंकि, उनके मत में, शिक्षा विद्यार्थियों की शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक और भावात्मक विकास का निर्धारण करके उनके व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए उद्दिष्ट है। उन्होंने शिक्षा की इस प्रक्रिया को उद्योग के समकक्ष मानना असंगत पाया। यह अभिनिर्धारित किया गया कि स्वतः शिक्षा इस अधिनियम की व्याप्ति में नहीं आती।[45] यह दृष्टिकोण लगभग डेढ़ दशकों तक सुस्थापित रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षण संस्थाओं में सामंजस्य और समन्वय बनाए रखने और टकराव को रोकने की दृष्टि से विवादों के अनिवार्य न्यायनिर्णयन के लिए कर्मचारियों को अधिकरण सुलभ नहीं हुआ और उनके पास सीधी कार्यवाही का सहारा लेने का ही विकल्प रह गया। व्यवस्था के अभाव के काल में, उभरने वाले दृश्य पटल की गतिशीलता ने उग्र सुधारवादी पुनर्चिन्तन को आवश्यक बना दिया। यह प्रश्न उठाया गया कि शिक्षा को उद्योग मानने में आश्चर्यजनक क्या है। इसका उत्तर था उसकी सम्मानीयता, उसका गौरवपूर्ण स्वरूप, उसकी वृत्तिक मुद्रा, उसका एकान्तवासी गुण जिन्हें वाणिज्यिक विवक्षाओं और कर्मकारों की कर्कश आवाज द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता। इन सभी निषेधों को नकारते हुए, न्यायालय ने यह ठहराया कि यथार्थवादियों ने अब यह प्रतिपादित किया है कि सांस्कृतिक क्षेत्र में शैक्षिक प्रबंध एक बड़ी सीमा तक सरकार के समर्थन पर निर्भर करता है और उनमें से कुछ इतनी अधिक फीस प्रभारित करते हैं कि स्कूल व्यापार बन गए हैं और प्रबंधक व्यापारी। न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि "सन्ध्याकालीन कक्षाओं, पत्राचार पाठ्यक्रमों, असीमित प्रवेशों, बढ़ती हुई फीस और सरकारी अनुदान, कीमतों पर दिए जाने वाले प्रमाणपत्रों और उपाधिपत्रों ने स्कूल और महाविद्यालयीन स्तर पर विधि, चिकित्सा और प्रौद्योगिकी शिक्षा सांस्कृति उद्यमियों के लिए दुस्साहसपूर्ण उद्यम और केम्पस (औद्योगिक) अशांति का दुर्भाग्यपूर्ण अड्डा बन गई है। काल्पनिक धारणाएं असत्य के साथ प्रयोग हैं।[46] इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए, न्यायालय ने दिल्ली विश्वविद्यालय के मामले में पूर्व के निर्णय को प्रत्यादिष्ट कर दिया।

4.2. बंगलौर वाटर सप्लाई एण्ड सीवरेज बोर्ड के मामले में दिए गए निर्णय ने, जिसके द्वारा अनुचित धारणाओं पर आधारित संभ्रान्त दृष्टिकोण प्रकट करने वाले अनेक पूर्ववर्ती निर्णयों को उलट दिया गया, समाज में भीषण विवाद पैदा कर दिया। न्यायालय ने यह धारित करने में सरकार और पूर्त चिकित्सालय, जो कोई लाभ अर्जित करने के आशय के बिना सेवा प्रदान करते हैं, सालिसिटर का कार्यालय जैसी उदार वृत्तियां, मद्रास जिमखाना और भारतीय क्रिकेट क्लब, जैसे क्लब, खादी और ग्राम उद्योग बोर्ड और शिक्षा धारा 2(जे) में यथापरिभाषित पद "उद्योग" की व्याप्ति में नहीं आती, की गई अनुचित धारणाओं को अस्वीकार कर दिया। इस प्रक्रिया में, न्यायालय ने पूर्ववर्ती सात निर्णयों को उलट दिया। न्यायालय की इस उग्र सुधारवादी भंगिमा ने एक भूतपूर्व मुख्य न्यायमूर्ति को इतना अशान्त कर दिया कि उन्होंने यह व्यक्त किया कि :

> "Industrial Disputes Act was intended to resolve matters not between employers and employees in grotesquely inflationary latitude but in the setting of capitalist system, which even a tyro knows, led to fight between the owners of land and means of production on the one hand and the wage earners on the other."[47]

वे न्यायालय के निर्णय द्वारा उद्योग की सूची में वृद्धि की जाने के प्रति इतने चिन्तित थे कि उनके अनुसार"

> "it will come to an end when the enthusiastic but fallacious and populist judicial activism gets tired. Ultimately in a democracy, pressure groups do succeed when those chargrined by the overruling of the earlier judgments lend support to a demand that the Parliament should set right the matter by denuding the effect of the judgment which overruled earlier judgments."

1500 L & J/88—3

बहरहाल, भारत सरकार ने हास्पिटल एण्ड अदर इन्स्टीट्यूशन्स (मेटिलमेन्ट ऑफ डिस्प्यूट्स) बिल, 1982 संसद् में पेश किया। यह तथ्य कि इस बिल के संबंध में अभी तक कोई आगामी प्रभावी कार्यवाही नहीं की गई है, पूर्व में कही गई इस बात का समर्थन करता है कि प्रभावशाली समूह बहुधा सफल होते ह बिल के द्वारा भारत सरकार यह चाहती थी कि पूर्णतः या सारवान् रूप से पूर्त, सामाजिक या परोपकारी क्रियाकलापों में लगे हुए किसी संगठन के स्वामित्व के या उनके द्वारा प्रबंधित चिकित्सालयों, शिक्षा संस्थाओं और संस्थानों, खादी या ग्रामोद्योगों में संलग्न संस्थाओं तथा राज्य के सार्वभौमिक कृत्यों से संबंधित क्रियाकलाप में, जिसके अन्तर्गत रक्षा अनुसंधान, परमाणु ऊर्जा और अन्तरिक्ष के संबंध में केन्द्रीय सरकार के विभागों द्वारा किए जाने वाले सभी क्रियाकलाप हैं, संलग्न प्रत्येक संस्थान को औद्योगिक विवाद अधिनियम के प्रवर्तन से अपवर्जित किया जाए और उन्हें उस अधिनियम द्वारा प्रशासित किया जाए जो उक्त बिल के संसद द्वारा पारित कर दिए जाने पर प्रवृत्त हो। प्रस्तावित अधिनियम में, शिकायत निराकरण समिति या परामर्शदात्री परिषद् या स्थानीय परामर्शदात्री परिषद् स्थापित किए जाने की परिकल्पना की गई थी, जिसे उस अधिनियम द्वारा शासित ऐसी संस्थाओं के नियोक्ता और कर्मचारियों के बीच के विवादों का निराकरण करने की अधिकारिता होगी। चूंकि यह बिल अभी कानून नहीं बना है, अतः उसमें परिकल्पित तन्त्र अस्तित्व में नहीं आया है। तथापि, उस सीमा तक, जिस तक बंगलोर वाटर सप्लाई में किया गया विनिश्चय प्रभावशील है, औद्योगिक विवाद अधिनियम के उपबंध ऐसी समस्त संस्थाओं के कर्मचारियों को उपलब्ध हैं बशर्ते वे "कर्मकार" की परिभाषा के अन्तर्गत आते हों। वर्तमान स्थिति पूर्णतः असंतोषजनक है।

4.3. कुछ राज्यों ने शिक्षकों और किसी सम्बद्ध महाविद्यालय या मान्यताप्राप्त संस्था के बीच के या विश्वविद्यालय और उसके शिक्षण निकाय के सदस्यों के बीच के विवादों या मतभेदों के न्यायनिर्णयन के लिए अधिकरणों की स्थापना का उपबंध करने वाले कानून अधिनियमित किए हैं। कुछ दृष्टान्तात्मक मामलों का परीक्षण किया जा सकता है।

4.4. पूना विश्वविद्यालय अधिनियम, 1974 की धारा 42ए में ऐसे अधिकारियों की स्थापना के लिए उपबंध किया गया है। आदेश दिनांक 28फरवरी, 1979 द्वारा अधिकरण की वस्तुतः स्थापना की गई और उसने 1 मार्च, 1979 से कार्य करना प्रारम्भ किया। सेवा निवृत्ति जिला और सत्र न्यायाधीश को अधिकरण का पीठासीन अधिकारी नियुक्त किया गया था। मोटे तौर पर, अधिकरण की अधिकारिता, जो धारा 42-बी में बताई गई है, एक ओर यथास्थिति संबद्ध महाविद्यालयों और विश्वविद्यालय के शिक्षकों और कर्मचारियों और दूसरी ओर यथास्थिति संबद्ध महाविद्यालय या विश्वविद्यालय के बीच के अनुशासनात्मक मामलों तक विस्तारित है। इस अधिकरण को विश्वविद्यालय के परिनियमों के अधीन स्थापित अनुशासन समिति के विनिश्चयों पर केवल अपीलीय अधिकारिता प्राप्त होनी थी।

4.5. शिवाजी विश्वविद्यालय और नागपुर विश्वविद्यालय की स्थापना करने वाले कानूनों में तत्समान उपबंध हैं और इसी प्रकार के अधिकरण, उसी विषय सामग्री को समाहित करने वाली लगभग वैसी अधिकारिता के साथ स्थापित किए गए हैं।

4.6. गुजरात सरकार द्वारा भी लगभग इसी आधार पर शिक्षा अधिकरण स्थापित किया गया है।

4.7. यहां यह याद रखना आवश्यक है कि विश्वविद्यालय की स्थापना करने वाले प्रत्येक अधिनियम में अनुशासनात्मक मामलों को विनिश्चित करने के लिए आन्तरिक अनुशासन अधिकरण स्थापित किए जाने का उपबंध किया गया है। राज्यों द्वारा स्थापित किए जाने वाले अधिकरण साधारणतः अपीलीय अधिकारिता का प्रयोग करते हैं। इस रिपोर्ट का आशय, उस अधिनियम के अधीन, जिसके अधीन विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई है, विश्वविद्यालयों द्वारा स्थापित किए गए आनुशासिक अधिकरणों के संबंध में विचार-विमर्श करना नहीं है। वास्तव में उन्हें आधारिक स्तर पर बनाए रखा जाना चाहिए।

4.8. राज्यों द्वारा स्थापित किए गए शिक्षा अधिकरण को सामान्यतः बहुत समिति अधिकारिता है। न्यूनाधिक रूप से वे अध्यापन कर्मचारीवृन्द या कर्मचारियों से संबंधित अनुशासनिक मामलों के संबंध में कार्यवाही करते हैं। उन्हें विद्यार्थियों, परीक्षा में किए गए कदाचार अन्तर्वलित करने वाले विवादों या विश्वविद्यालयों और राज्य सरकार के बीच के विवादों पर कोई अधिकारिता नहीं है। सामान्यतः, इन अधिकरणों में जिला और सत्र न्यायाधीश के संवर्ग के सेवा निवृत्त न्यायाधीश रखे जाते हैं जिनके प्रति बिना किसी अनादर के यह कहा जा सकता है कि उन्हें विश्वविद्यालयों के प्रशासन और उन समस्याओं का, जिनका सामना उन्हें करना पड़ता है, कोई अनुभव नहीं होता।

4.9. इन अधिकरणों के विनिश्चय, उच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन होते हैं। उच्च न्यायालय द्वारा किए जाने वाले हस्तक्षेप का दायरा निश्चित रूप से निर्वेन्धित होगा क्योंकि मामूली तौर से उच्च न्यायालय, अनुच्छेद 226-227 के अधीन न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रयोग करते हुए, अधिकरणों द्वारा अभिलिखित तथ्य संबंधी निष्कर्षों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। इन अधिकरणों को कुछ सीमा तक विश्वविद्यालय और संबद्ध महाविद्यालयों के शिक्षकों का विश्वास प्राप्त होता है। उपलब्ध जानकारी से ज्ञात होता है कि शिवाजी और पूना विश्वविद्यालय के अधिकरणों ने उनके समक्ष लाए

गए 63 मामलों में से 32 मामलों में शिक्षकों की सेवामुक्ति के आदेश को अपास्त कर दिया और उनकी बहाली का निदेश दिया।

4.10. इस बिन्दु का उपसंहार करने के पूर्व, यह बताना उचित होगा कि एक वर्ग का मत अधिकरणों द्वारा किए गए न्याय को कुछ चिन्ताकुल दृष्टि से देखता है। अधिकरण निर्विवाद रूप से स्वयं परिवर्द्धनशील हैं। विधि आयोग ने, इस देश में एकाश्म न्याय प्रशासन के विकेन्द्रीकरण के प्रयास में, न्याय का अधिकरणीकरण करने का समर्थन किया है। विधि आयोग की सिफारिशों के दायरे के बाहर भी, भारत में अधिकरण एक लम्बे समय से कार्य करते रहे हैं। दृष्टांतस्वरूप आय-कर अधिकरण 25 जनवरी, 1941 को अस्तित्व में आया। इनके अलावा, सीमा-शुल्क, उत्पाद-शुल्क और स्वर्ण नियंत्रण अधिकरण हैं। रेल रेट अधिकरण है। औद्योगिक अधिकरण है। अभी हाल ही में, सरकार और उसके कर्मचारियों के बीच के विवादों के संबंध में कार्यवाही करने के लिए प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम के अधीन प्रशासनिक अधिकरण स्थापित किए गए है। निःसंदेह इन अधिकरणों को राज्य की न्यायिक शक्ति प्राप्त है। उनके विनिश्चय, भारत के संविधान के अनुच्छेद 226-227 के अधीन उच्च न्यायालय के और अनुच्छेद 136 और 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय द्वारा पुनर्विलोकन के अध्यधीन हैं।

4.11. यह सुसंगत प्रश्न उठाने के पूर्व कि क्या न्याय का अधिकरणीकरण, न्यायालयों द्वारा किए गए न्याय की तुलना में न्याय के मूल्य का ह्रास करता है, यह बताना आवश्यक है कि केवल यू०के० में, अधिकरण परिषद् के पर्यवेक्षण के अध्यधीन विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत दो हजार अधिकरण है। अधिकरण परिषद् सर्वप्रथम ट्रिबुनल्स एण्ड इन्क्वायरीज ऐक्ट, 1958 के के अधीन स्थापित की गई थीं जिसे निरस्त करके ट्रिबुनल्स और इन्क्वायरीज ऐक्ट, 1971 प्रतिस्थापित किया गया। परिषद् के मुख्य कार्य हैं: (क) अधिकरण के गठन और कार्यकरण की समीक्षा करना; (ख) ऐसे विषयों पर विचार करना और रिपोर्ट देना जो समय-समय पर उसे निर्दिष्ट किए जाएं; और (ग) प्रशासनिक प्रक्रियाओं पर विचार करना और रिपोर्ट देना। प्रशासनिक विधि और न्याय प्रशासन न केवल विहित प्रक्रिया के दृढ़ पालन की अपेक्षा करता है वरन् प्रक्रिया में नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त अन्तर्निहित होने चाहिए। स्थापित प्रक्रिया का अनुपालन और सकारण आदेश से कम से कम यह तो पता लग ही सकता है कि निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए विनिश्चय करने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क ने किस प्रकार कार्य किया और विनिश्चय किसी भी दशा में सत्याभासी होना चाहिए। इस प्रकार परिषद् विभिन्न अधिकरणों के कार्य में समन्वय स्थापित करती है। अधिकरणों द्वारा निष्पक्ष न्याय देने में उसकी भूमिका महत्वपूर्ण साबित हुई है। परिषद् के आलोचक भी रहे हैं और यह कहा गया है कि परिषद् दन्तविहीन शेर के समान है और उसके विचारों की सरकार द्वारा बहुधा अपेक्षा कर दी जाती है। किसी ने कानूनी अधिकरण के लिए विधान के प्रारूपण में उसकी सहभागी भूमिका नहीं है। किसी पश्चात्वर्ती समय पर, विधि आयोग को एक ऐसे निकाय पर रिपोर्ट तैयार करना होगी जिसे स्वयं परिवर्धनशील अधिकरणों के संबंध में पर्यवेक्षी अधिकारिता प्राप्त हो।

4.12. हमारे देश का जहां तक संबंध है, यह बताया जा सकता है कि साधारणतः अधिकरणों को नापसंद नहीं किया गया। वास्तव में, आय-कर अधिकरण के कार्य की अनेक कर विशेषज्ञों द्वारा सराहना की गई है। इसके बावजूद भी, झुकाव निःसंदेह रूप से न्यायालयों के पक्ष में और अधिकरणों के विरुद्ध है।

4.13. यह संदेह क्यों पैदा होता है, इसका न केवल परीक्षण आवश्यक है, वरन् आलोचना का उचित और प्रभावी ढंग से सामना किया जाना चाहिए या उसे स्वीकार किया जाना चाहिए। विधि न्यायालय अधिकरणों के विपरीत, सामान्य न्यायालय हैं। अधिकरणों को सीमित अर्थ में विशेषज्ञ न्यायालय कहा जा सकता है। आशंका यह नहीं है कि अधिकरण, न्यायालयों के कृत्य ग्रहण कर लेंगे वरन आशंका अधिकरणों पर सरकार द्वारा प्रयुक्त नियंत्रण, अधिकरणों में व्यक्तियों की नियुक्ति की रीति, ढंग और शक्ति, और सामान्यतः सरकारी दबाव से उनकी उन्मुक्तता से उत्पन्न होती है। शीर्षक "अधिकरण" के अन्तर्गत अनुच्छेदों की जो श्रंखला संविधान के भाग 14क में समाविष्ट है, वह उन मामलों की बाबत विवादों, शिकायतों या अपराधों के न्यायनिर्णयन के लिए अधिकरण स्थापित किए जाने की परिकल्पना करती है जो अनुच्छेद 312ब (2) में वर्णित हैं। उसमें वर्णित मदों का क्षेत्र व्यापक है। अनुच्छेद 323क की व्यापित का, जो समुचित सरकार को, यथोचित विधान बनाकर सेवा शर्तों से, जिनके अन्तर्गत सरकारी कर्मचारियों की वरिष्ठता संबंधी उत्पीड़क प्रश्न भी हैं, संबंधित विवादों के बारे में कार्यवाही करने के लिए सेवा अधिकरणों की स्थापना करने के लिए सक्षम बनाता है, परीक्षण करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह विचार व्यक्त किया कि ये अधिकरण न्यायालयों को सेवा संबंधी मामलों में रिट याचिकाओं और अपीलों के प्रपुंज से मुक्ति दिला सकते हैं। इन अधिकरणों की कार्यवाहियों का एक गुण उनकी अनौपचारिकता हो सकती है और यदि उन्हें साक्ष्य के दृढ़ नियमों से आबद्ध नहीं किया जाता तो वे ऐसा हल उपलब्ध करा सकेंगे जिससे बहुतों को संतोष होगा।[50] इसके पश्चात् संसद् ने प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 अधिनियमित किया तो उसकी संवैधानिक मान्यता को चुनौती दी गई और भारत के उच्चतम न्यायालय की संवैधानिक पीठ ने कुछ टिप्पणियों के साथ उसका अनुमोदन किया।[51] न्यायालय ने न्याय के अधिकरणीकरण का विरोध नहीं किया किन्तु उसने अपना ध्यान उन क्षेत्रों पर केन्द्रित किया जो अधिकरणों को संदेह की दृष्टि से देखें

जाने की स्थिति पैदा करते हैं। यह विचार व्यक्त करने के पश्चात् कि न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का आधारभूत और आवश्यक लक्षण है और, इसलिए संसद् द्वारा अपनी संविधानकारी शक्ति का प्रयोग करते हुए बनाई गई कोई भी विधि उसे निराकृत या समाप्त नहीं कर सकती, न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि संसद् न्यायिक पुनर्विलोकन को पृथक् न करते हुए, न्यायिक पुनर्विलोकन के लिए प्रभावी वैकल्पी संस्थागत युक्तियां या व्यवस्थाएं स्थापित कर सकता है। इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए, न्यायालय ने यह अभिमत व्यक्त किया कि यह अधिनियम उच्च न्यायालय के स्थान पर एक अन्य तन्त्र को उपबंध करना है जो संवैधानिक मर्यादाओं को प्रवृत्त करने और विधि सम्मत शासन बनाए रखने की दृष्टि से, पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग करेगा। यह विचार भी व्यक्त किया गया कि यदि, विधि द्वारा, अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन उच्च न्यायालय की अधिकारिता अपवर्जित कर दी जाती है और जो अनुज्ञेय है, तो विधि को रिक्तता निर्मित नहीं करनी चाहिए किन्तु कोई अन्य प्रभावी तंत्र या प्राधिकरण स्थापित करना चाहिए और उसमें न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति वेष्ठित करना चाहिए। यह विधि, न्यायालय द्वारा बनाए गए कतिपय संशोधनों के अध्यधीन रहते हुए, संवैधानिकता की कसौटी पर ठीक पाई गई। इस प्रकार, उच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करते हुए, न्याय के अधिकरणीकरण का अनुमोदन नहीं किया गया। दृष्टिगत रखने वाली वास्तविक कसौटी यह है कि अधिकरण न्यायालयों के प्रतिस्थानी होंगे, और उन्हें ऐसा नहीं होना चाहिए जिससे यह आभास हो कि न्यायालय न्याय उपलब्ध नहीं रहेगा। इसके विपरीत, सामान्य न्यायालयों के स्थान पर, ऐसे अधिकरण में विशेषज्ञों को रखा जाएगा। विनिर्दिष्ट क्षेत्र पर अधिकारिता रखने वाले इन अधिकरणों में उस क्षेत्र के विशेषज्ञों को नियुक्त किया जा सकता है और, इसलिए, विवादों के निराकरण में उसके द्वारा सापेक्ष गति और प्रक्रिया की अनौपचारिकता प्राप्त कर लेना संभाव्य है। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि अधिकरण न्यायालयों के प्रतिस्थानी है वरन् मुख्य प्रश्न यह है कि उनमें किन व्यक्तियों को नियुक्त किया जाएगा और कौन सी प्रक्रिया अनुसरित की जाएगी और क्या वह सरकारी नियंत्रण से पूरी तरह स्वतंत्र रहेगा। इन धुंधले क्षेत्रों में अनधिक्रमण सुनिश्चित करने की सावधानी को ले ली जाने पर, अधिकरण-न्याय सामान्य न्यायालय के न्याय की अपेक्षा अधिक प्रतिग्राह्य, स्वागत योग्य और प्रभावी होगा। अतः शिक्षा के क्षेत्र में विवादों का निराकरण करने के लिए अधिकरण की सिफारिश करते समय आयोग इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करेगा कि अधिकरण में नियुक्ति के लिए व्यक्तियों के चयन के प्रश्न पर क्या प्रभावी कार्यवाही की जानी चाहिए। अधिकरण द्वारा अनुसरित की जाने वाली प्रक्रिया क्या होनी चाहिए और उसे सरकारी हस्तक्षेप या प्रभावित हितों के हस्तक्षेप से कैसे बचाया जाना चाहिए।

अध्याय—5

विचार-विमर्श

5.1 इस रिपोर्ट की विषय-वस्तु से प्रत्यक्षतः प्रभावित हित हमारे समाज का अत्यधिक वाक्पटु खण्ड है, अतः इस आरोप से बचने के लिए कि ऐसे हितों को विधि आयोग के सुझावात्मक विचारों में सहभाविकता का पर्याप्त अवसर दिए बिना ही कुछ किया गया है, एक व्यापक कार्यपत्र, जिसके साथ एक प्रश्नावली संलग्न की गई थी, तयार किया जाकर उसका 9 मार्च, 1987 को व्यापक प्रचार किया गया था। वह प्रिन्ट मीडिया को दिया गया था और उसकी प्रतियां भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ को इस अनुरोध के साथ भेजी गई थी कि वह उसे सभी विश्वविद्यालयों को संसूचित करे। कार्यपत्र विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, प्रत्येक विश्वविद्यालय तथा उन शिक्षक संघों को, जिनके बारे में जानकारी उपलब्ध थी, भेजा गया था भारतीय विश्वविद्यालयों का संघ विश्वविद्यालय समाचार के नाम से एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करता है उसके 23 मार्च, 1987 के अंक के कार्यपत्र में मुख्य अंश व्यापक वर्ग की जानकारी के लिए प्रकाशित किए गए थे और उनसे अनुरोध किया गया था कि वे कार्यपत्र में उठाए गए विभिन्न बिन्दुओं पर 30 अप्रैल, 1987 तक सुझाव भेजें। [52] विभिन्न विश्वविद्यालयों के कुलपतियों से, जिनमें से प्रत्येक को कार्यपत्र भेजा गया था, अनुरोध किया गया कि वे उसे विश्वविद्यालय के शिक्षक संघ तथा विश्वविद्यालय के कर्मचारियों और विद्यार्थी संघ को कार्यपत्र की संसूचना यह अनुरोध करते हुए दे कि वे अपने विचार आयोग को प्रस्तुत करें। प्रिण्ट मिडिया ने भी कार्यपत्र का सारांश भी प्रकाशित किया। यह सार्वजनिक सूचना निकाली गई कि कोई भी जो इस विषय-वस्तु में हितबद्ध है, न केवल आयोग को संसूचित करने के लिए आमंत्रित है वरन् वह कार्यपत्र की प्रतियां भी मंगा सकता है। भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ ने भी प्रत्येक विश्वविद्यालय के कुलपति से यह अनुरोध किया कि वे कार्यपत्र पर चर्चा करने के लिए एक दिन का सेमीनार आयोजित करें और संघ तथा आयोग को विचारों से अवगत कराएं।

5.2 भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ ने इस संबंध में सर्वप्रथम कार्यवाही की और विधि आयोग द्वारा जारी किए गए कार्यपत्र पर 2 मई, 1987 को सामूहिक चर्चा आयोजित की। इस चर्चा में तालिकांकित व्यक्तियों में अन्य व्यक्तियों के साथ-साथ विधि आयोग के अध्यक्ष और सदस्य सचिव, प्रोफेसर यशपाल, अध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, प्रोफेसर जी० एम० रेड्डी, अध्यक्ष, भारतीय विश्वविद्यालय संघ प्रोफेसर मूनिस रजा, कुलपति, देहली विश्वविद्यालय, प्रोफेसर एस० के० अग्रवाल, कुलपति आगरा विश्वविद्यालय, प्रोफेसर एम० पी० माथुर, भूतपूर्व कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय और सदस्य, चतुर्थ वेतन आयोग, प्रोफेसर रईस अहमद, भूतपूर्व उपाध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, और श्री जी० बी० के० आहूजा, भूतपूर्व कुलपति सम्मिलित थे। निसंदेह तालिकांकित व्यक्तियों में से एक या दो उपस्थित रहने में असमर्थ रहे। निदेशकों और विभागाध्यक्षों को सम्मिलित करते हुए 61 से भी अधिक कुलपति चर्चा में उपस्थित हुए। कुछ संस्था अध्यक्ष भी चर्चा में उपस्थित हुए। यह गहन चर्चा थी जिसका स्वरूप परिव्यापी था जिसमें प्रकाशवान विश्लेषण किया गया और शिक्षा के क्षेत्र में विवादों के निराकरण की खेदजनक स्थिति पर प्रकाश डाला गया। कुलपतियों ने सामान्य रूप से प्रस्ताव का समर्थन किया। राय निकटतम रूप से सर्वसम्मत रही क्योंकि विधि आयोग द्वारा अपने कार्यपत्र में किए गए प्रस्तावों का केवल एक कुलपति ने विरोध किया। भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ के अध्यक्ष, प्रोफेसर जी० राम रेड्डी इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के कुलपति, जिन्होंने सामूहिक चर्चा की अध्यक्षता की, जोर देकर यह कहा कि केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण स्थापित करने का प्रस्ताव ही वह औषधि है जो विश्वविद्यालयों को नया जीवन देने के लिए आवश्यक है। इसी भाव को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा "यदि आप सरकार से ऐसा अधिकरण नियुक्त करा लेते हैं तो आप विश्वविद्यालय शिक्षा का बहुत भला कर सकेंगे।" [53] सामूहिक चर्चा में हुए विचारविमर्श समाचार-पत्रों में सामान्यतः शीर्षक "विशेषज्ञ भारतीय विश्वविद्यालयों को रुग्ण पाते हैं" के अधीन व्यापक रूप से प्रकाशित किए गए। [54] संक्षेप में, विशेषज्ञों और कुलपतियों ने केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण की स्थापना को हितकर माना। [55] सामूहिक चर्चा में उस प्रत्येक प्रश्न का परीक्षण किया गया जो कार्यपत्र के साथ उपाबद्ध थे, और उसमें प्रत्येक प्रश्न पर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया। संघ के पत्र ने 11 मई, 1987 [55] के अपने अंक में चर्चा का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित किया। इसके ठीक पश्चात संघ ने भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ द्वारा आयोजित सामूहिक चर्चा में भाग लेने वाले कुलपतियों की सिफारिशें विधि आयोग के विचारार्थ भेजी। संक्षेप में कहते हुए, संघ ने विधि आयोग द्वारा उच्च शिक्षा के केन्द्रों को अन्तर्वलित करने वाले विवादों

से संबंधित न्याय प्रशासन के बारे में विधि आयोग द्वारा की गई पहल की सराहना की। तालिकांकित सभी विशेषज्ञों और कुलपतियों ने केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण, जो संबंधित सरकारों, विश्वविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के शिक्षकों और विद्यार्थियों को अन्तर्वलित करने वाले अभिकथित अन्याय के संबंध में कार्यवाही करेगा, स्थापित किए जाने के विधि आयोग के प्रस्ताव का समर्थन किया। उनकी राय यह थी कि शिकायतों को दूर करने और विवादों को हल करने की आन्तरिक पद्धति को पूरी तरह क्रियाशील बनाया जाना चाहिए और अधिकरण केवल वे मामले ले सकेगा जो शिकायतों के निराकरण के विश्वविद्यालयीन पद्धति से गुजर चुके हैं। वे कार्यपत्र में किए गए इस प्रस्ताव से सहमत थे कि ऐसा केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण शिक्षा के क्षेत्र की समस्याओं के लिए अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य उपलब्ध कराएगा और इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए, एक बहु-स्तरीय और एकीकृत न्यायिक पद्धति इस प्रकार निर्मित की जानी चाहिए कि न्याय प्रशासन के विकेन्द्रीकरण का उद्देश्य पूरी तरह प्राप्त किया जा सके। अधिकरण की संरचना के संबंध में, उनकी राय यह थी कि अधिकरण प्रख्यात शिक्षा प्रशासक, कुलपति, आचार्य और न्यायाधीशों से मिलकर बनना चाहिए। अधिकरण का गठन करने में, उनका कहना था कि उच्च सत्यनिष्ठा वाले व्यक्तियों का चयन करने में अत्यधिक सावधानी बरती जानी चाहिए और अधिकरण की सहायता के लिए एक सशक्त सचिवालय होना चाहिए। उनकी राय थी कि जबकि शैक्षिक मामलों से संबंधित सभी विवाद अधिकरण के कार्यक्षेत्र में होना चाहिए, साम्पत्तिक मामलों में कार्यवाही सिविल न्यायलयों द्वारा की जानी चाहिए सर्वसम्मति से उन्होंने महसूस किया कि अधिकरण शैक्षिक विवादों को शीघ्रता से हल कर सकेगा जिससे विश्वविद्यालयों के कैम्पसों में एक बड़ी सीमा तक शांति सुनिश्चित हो सकेगी जो शैक्षणिक स्तर के उन्नयन में सहायक होगी। अनुवर्ती कार्यवाही के रूप में उन्होंने एक कार्यकारी दल स्थापित करने का विनिश्चय किया जो इस संबंध में विधि आयोग को ठोस सुझाव दे सकेगा। ऐसा दल प्रोफेसर जी० राम रेड्डी की अध्यक्षता में स्थापित किया गया। इस दल ने अनेक सुझाव दिए।

5.3 इस दल ने यह सिफारिश की कि विश्वविद्यालय अधिकरण के लिए विधि आयोग का प्रतिमान सामान्यत: स्वीकार्य है। उन्होंने उन विवादों को, जिनमें विश्वविद्यालय अन्तर्वलित हैं, प्रभावित होने वाले संबंधित क्षेत्र के आधार पर वर्गीकृत किया। स्थूलत: उनके अनुसार, समस्याओं को तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है, अर्थात्:—

(1) विद्यार्थियों की समस्याएं—प्रवेश, निष्कासन, नकल करना, आदि;

(2) शिक्षकों और प्रशासनिक कर्मचारीवृन्द की समस्याएं— वरिष्टता, सेवा शर्तें, आदि, और

(3) कुलपति से संबंधित समस्याएं—विश्वविद्यालय और राज्य सरकारों, और कुलपतियों के बीच वित्तीय विषयों और निति विषयक अन्य विषयों की बाबत संबंध।

उनके अनुसार, उन कारणों में जो विश्वविद्यालय अधिकरणों की स्थापना को समर्थित करते हैं, निम्नलिखित कारण सम्मलित हैं :

(क) अति संकुल न्यायालय—यह वह विषय है जिसने स्वाभाविक और उचित रूप से विधि आयोग का ध्यान आकृष्ट किया है। तथापि, यह केवल विश्वविद्यालयों के लिए सुसंगत है जहां तक कि वे शैक्षिक विवादों का शीघ्र निपटारा चाहते हैं;

(ख) मामलों के निपटारे में होने वाला विलम्ब, जो विश्वविद्यालयों में बहुत अधिक भ्रान्ति और अनिश्चितता का कारण बना हुआ है ;

(ग) शिक्षा से संबंधित मामलों पर विचार करते समय विशेषज्ञीय ध्यान की आवश्यकता। न्यायिक विनश्चयी करण में इस तत्व के अभाव के परिणामस्वरूप जिसे विधि आयोग के कार्यपत्र में सशक्तता के साथ दर्शित किया गया है, परिहार्य भ्रान्ति उत्पन्न हुई है।

अधिकांश विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों और कर्मचारी-वृन्द के लिए शिकायतों के संबंध में कार्यवाही करने वाला जो वर्तमान तन्त्र है, उसका उल्लेख करते हुए यह बताया गया कि शिकायतों के सन्दर्भ में भी उसी पदानुक्रम के अधिकारियों को सहभागिता ने, जो मूल मामलों (प्रवेश, नकल, निष्कासन, आदि) में होती है या उनके विभिन्न स्तरों और पारस्परिक क्रिया ने प्रक्रियागत वस्तुपरकता और निष्पक्षता की छवि समाप्त कर दी है। उनके अनुसार, विद्यार्थी तटस्थ निकाय की वांछा करता है जो उसे बाह्य वैयक्तिक / वृत्तिक/सोशलिस्टी बातों पर ध्यान दिए बिना, केवल उसके मामले के गुणदोष के आधार पर निर्णय दे सके। विधि आयोग के दृष्टिकोण से, केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण की स्थापना के लिए यह पर्याप्त औचित्य है। समूह ने शिकायत के संबंध में कार्यवाही करने के लिए तीन स्तरीय तन्त्र का सुझाव दिया। आधारिक स्तर पर यह सुझाव दिया गया कि प्रत्येक विश्वविद्यालय को विवाद के समझौते के लिए विद्यार्थियों के हेतु शिकायत प्रकोष्ठ या न्यायाधिकरण की व्यवस्था करनी चाहिए। यह प्रकोष्ठ या न्यायाधिकरण विश्वविद्यालय के पद सोपान से स्वतंत्र होनी चाहिए और गठन ऐसे व्यक्तियों से मिलकर होना चाहिए जो शिक्षा से संबंधित समस्याओं से भलीभांति अवगत हैं और जो न्याय को इस आकांक्षा की पूर्ति करते हैं कि न्याय केवल किया जाना चाहिए वरन किया गया प्रतीत होना चाहिए।

अधिकरणों के संबंध में अपनी यह आशंका प्रकट करने के पश्चात् कि वे न्यायालयों के प्रतिस्थानी के रूप में स्थापित किए जाएंगे, यह सुझाव दिया गया कि प्रादेशिक और केन्द्रीय अधिकरण होने चाहिएं जिन्हें विश्वविद्यालय स्तरीय शिकायत कार्यवाही तन्त्र की अपीलें सुननी चाहिएं और केन्द्रीय अधिकरणों को द्वितीय स्तरीय अपीलें सुननी चाहिएं। यदि यह किया जाता है तो, उनके अनुसार उच्च न्यायालय की अधिकारिता अनावश्यक हो जाएगी और अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालयों को केवल एक अपील की जाने का अधिकार शेष रहेगा। अधिकरण की संरचना के प्रश्न पर, उन्होंने उन सिद्धान्तों को अंगीकार किया जो उच्चतम न्यायालय द्वारा सम्पत कुमार के मामले में 57 प्रतिपादित किए गए हैं। उनके अनुसार प्रादेशिक और केन्द्रीय अधिकरण दोनों ही के दो खण्ड—एक विद्यार्थियों के मामलों के लिए और दूसरा शिक्षकों और कर्मचारियों के मामलों के लिए होना चाहिए। अधिकरण में व्यक्तियों को नियुक्त करने की शक्ति एक ऐसे निकाय में वेष्ठित होनी चाहिए जो कार्मिकों के चयन में विश्वास उत्पन्न कर सके, किन्तु बात यहीं पर छोड़ दी गई बिना यह विनिर्दिष्ट किए कि शक्ति किस निकाय में वेष्ठित होनी चाहिए। किसी भी दशा में, गूढ़ अर्थ खोजा जा सकता है और वह यह है कि वह शक्ति सरकार में निहित नहीं होनी चाहिए। अधिकरण की अधिकारिता के संबंध में, उनकी राय यह थी कि कुलपति के राज्य सरकार से संबंध, वित्तीय मामलों, विश्वविद्यालय का विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से संबंध, कुलाधिपति और कुलपति के बीच संबंध, नीति विषयक विषय हैं, और इसलिए आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रेस परिषद् और विधिज्ञ परिषद् पर आधारित प्रतिमानों पर विचार किया जाना चाहिए। उन्होंने यह राय भी व्यक्त की कि सामूहिक लोकपाल के नाम से ज्ञात होने वाले न्यायाधिकरण के गठन के पूर्व, कुलाधिपतियों, कुलपतियों, राज्य सरकारों और केन्द्रीय सरकार के लिए आचार संहिता होनी चाहिए।

5.4 सामूहिक चर्चा में हुए विचारविमर्श तथा साथ ही सामूहिक चर्चा में भाग लेने वालों की सिफारिशों और भाग लेने वाले व्यक्तियों द्वारा अनुवर्ती कार्यवाही के रूप में स्थापित समूह द्वारा की गई सिफारिशों का इस विशिष्ट कारण से विस्तृत परीक्षण किया गया कि भारतीय विश्वविद्यालयों का संघ सारवान् रूप से प्रभावित हित का प्रतिनिधित्व करता है और उसने न केवल विधि आयोग द्वारा जारी किए गए कार्यपत्र में गहरी रुचि ली है वरन् इस रिपोर्ट की विषय-वस्तु से सुसंगत समस्त पहलुओं पर अपनी रुचि दिखलाई है।

5.5 भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ के अलावा, आयोग को विश्वविद्यालयों के कुलसचिवों, संकायाध्यक्षों, विभागाध्यक्षों, केन्द्र के अध्यक्ष और निदेशकों तथा भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, शिक्षकों, एक न्यायाधीश और अधिवक्ता, शिक्षणेतर कर्मचारियों और दूसरों से भी उत्तर प्राप्त हुए हैं। इन सभी उत्तरों का संख्यावार सूक्ष्म विश्लेषण करना उचित नहीं होगा किन्तु उनसे परिलक्षित होने वाली स्थूल विचारधारा का उल्लेख किया जा सकता है। कुछ शिक्षकों और शिक्षकों के संघों को छोड़कर, विधि आयोग के कार्यपत्र में प्रस्तुत किए गए प्रस्तावों की न केवल सराहना की गई है वरन् उन पर आम सहमति व्यक्त की गई है। कुछ शिक्षक भी प्रस्ताव से मोटे तौर पर सहमत हुए हैं किन्तु उन्होंने इस आशंका का निवारण करने के लिए कि ऐसे अधिकरण कुलपतियों से, जिनसे कि साधारणतः शिक्षकों के विवाद होते रहते हैं, भयाक्रांत रहेंगे, कुछ अतिरिक्त सुझाव दिए हैं। यह निकाय, उनके अनुसार, इस कारण कुलपतियों के पक्ष में, पूर्वाग्रह से ग्रस्त रहेगा और इसलिए विश्वविद्यालयों के पक्ष में भी। कर्मचारियों के दो संघों ने विधि आयोग द्वारा रखे गए प्रयोगात्मक प्रस्ताव का समर्थन किया है। उन कारणों को पुनः कथित करना आवश्यक नहीं है जिनने उन व्यक्तियों को प्रभावित किया है जिन्होंने मोटे तौर पर प्रस्ताव का अनुमोदन किया है।

5.6 उन व्यक्तियों के आक्षेपों, आशंकाओं और संकोचों पर प्रकाश डालना अत्यावश्यक है जो विधि आयोग के प्रस्तावों के विरुद्ध हैं। पुनः संख्या का उल्लेख किए बिना, संकोच के उन उद्देश्यों के आधारों को जो प्रस्ताव का समर्थन करने वाले व्यक्तियों के लिए एक समान है, देखा जा सकता है।

5.7 प्रथम और सर्वमुख संकोच इस तथ्य से उद्भूत होता है कि उच्च न्यायालय की ढाल को हटाते हुए न्याय का अधिकरणीकरण, न्याय की गुणवत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा। विश्वविद्यालय के शिक्षण संकाय के सदस्यों और विश्वविद्यालय के कर्मचारियों ने यह आशंका प्रकट की कि वे विश्वविद्यालय के प्राधिकारियों के शिकार हैं और उच्च न्यायालय के संरक्षण की ढाल के बिना उनकी स्थिति नाजुक हो जाएगी। इस आशंका को उत्पत्ति अधिकरण की संकल्पना में नहीं है किन्तु अधिकरण को संरचना में है—जो एक ऐसा पहलू है जिस पर आयोग गंभीरता से विचार करने जा रहा है। आशंका का दूसरा अंग यह है कि अधिकरण में कार्मिकों को नियुक्ति करने की शक्ति किसे होगी। पुनरावृत्ति से बचने के लिए, यह नहीं भूलना चाहिए कि विशेषज्ञ अधिकरण द्वारा न्याय का समर्थन देश के सर्वोच्च न्यायालय ने किया है। यदि न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं छीना जाता है तो उच्च न्यायालय के स्थान पर कोई भी अन्य न्यायाधिकरण या तन्त्र या प्राधिकरण हो सकता है जिसमें संसद् द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति वैष्ठित की जा सकती है[58] वास्तव में, देश में यह विचारधारा चल रही है कि विशेषज्ञ अधिकरण सामान्य न्यायालयों की तुलना में उन विवादों का, जिनके लिए क्रियाकलापों के उस क्षेत्र के,

जिसमें विवाद उत्पन्न हुए हैं, विशेषज्ञीय ज्ञान की आवश्यकता है, निराकरण करने के लिए अधिक उपयुक्त होंगे।

5.8 आशंका का दूसरा अवयव यह था कि प्रस्तावित केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण सेवा निवृत्त कुलपतियों, न्यायाधीशों, नौकरशाहों, और दूसरों के लिए डम्पिंग ग्राउण्ड होगा और यह कि उनकी नियुक्तियां राजनैतिक उपहार वितरण के रूप में किया गया माना जाएगा। ऐसा निकाय खोजने के लिए सावधानी बरती जाएगी जिसमें अधिकरण में नियुक्त किए जाने के लिए व्यक्तियों का चयन करने की शक्ति बैठित की जाएगी। किन्तु यह समाज के वरिष्ठ नागरिकों, जैसे सेवानिवृत्त उपकुलपतियों, न्यायाधीशों और यहां तक कि नौकरशाहों के संचित अनुभव को व्यर्थ करना होगा यदि उनकी सेवाओं का उपयोग उस क्षेत्र में नहीं किया जाना जिसमें उन्हें विशेषज्ञीय ज्ञान प्राप्त है। वास्तव में विधि आयोग यह समझ पाने में असमर्थ है कि सेवानिवृत्त न्यायाधीशों के बारे में अविश्वास की भावना क्यों है। संविधान का अनुच्छेद 128 भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से किसी व्यक्ति से, जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है, यह निवेदन करे कि वह उच्चतम न्यायालय के न्यायाशीश के रूप में बैठे और कार्य करे। यदि उसे इस प्रकार नियुक्त किया जाता है तो वह उच्चतम न्यायालय में लंबित मामलों को निपटा सकता है। यदि सेवानिवृत्त न्यायाधीश पर उच्चतम न्यायालय के मामलों को निपटाने के लिए इस प्रकार विश्वास किया जा सकता है तो विधि आयोग यह समझ पाने में असमर्थ है कि उसे अधिकरण में नियुक्त करके उसके विशेषज्ञीय ज्ञान और गहन अनुभव का प्रयोग करने के लिए उस पर विश्वास क्यों नहीं किया जा सकता। विगत काल में, सेवा निवृत्त न्यायाधीशों को उच्चतम न्यायालय में कार्य करने के लिए वापस बुलाए जाने के दृष्टांतात्मक मामले हैं और इस संबंध में कोई भी शिकायत नहीं सुनी गई। अनुच्छेद 224क में, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सेवाओं का उपयोग उच्च न्यायालय में किए जाने के लिए उपबंध है। यही तर्क कुलपतियों, शिक्षा के क्षेत्र में प्रख्यात व्यक्तियों और यहां तक कि नौकरशाहों को आवश्यक परिवर्तन सहित लागू किया जा सकता है।

5.9 जो एक दूसरी शिकायत की गई वह यह थी कि ऐसे अधिकरण की स्थापना को आवश्यक बनाने के लिए प्रयाप्त कार्यभार नहीं है, और परिणामस्वरूप, प्रस्तावित अधिकरण की स्थापना अलाभकर उद्यम होगा। इससे न्याय प्रशासन पर व्यय का महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। इसे वर्तमान में विकासेतर व्यय माना जा रहा है। इस संबंध में सुधारवादी पुनर्विचार आवश्यक है। संसदीय लोकतंत्र में, दक्ष न्याय प्रशासन पद्धति से रहित समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। विकासशील देश में न्याय पर व्यय एक सामाजिक उर्ध्वस्थ है। और न्याय का विविधीकरण और विकेन्द्रीकरण कतिपय सुपरिभाषित क्षेत्रों में विशेषज्ञ अधिकरणों को आवश्यक बनाता है, जिनमें कार्यभार भले ही पर्याप्त न हो, अधिकरण अवश्य स्थापित किया जाना चाहिए, ताकि सामान्य न्यायालयों में, विशेषतः उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालयों में संकुलता और भार कम हो सके। और तदद्वारा समाज में संघर्ष और तनाव की स्थिति दूर करके विवादों के शीघ्र और अविलम्ब निपटारे का अति वांछनीय परिणाम प्राप्त किया जा सके। प्रत्येक टकराव निश्चित रूप से समाज के असमाजस्य और विग्रह में वृद्धि करता है, जिसकी उत्पत्ति साधारणतः अनिराकृत विवादों से होती है। अतः कार्यभार के इस तर्क को महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। इसे कोई समुचित महत्व न दिए जाने का एक अतिरिक्त कारण भी है। यह कारण यह है कि इस संबंध में पूरी सांख्यकीय सामग्री उपलब्ध नहीं है।

5.10 विषय के इस पहलू का तीसरा अवयव भी है। प्रस्तावित अधिकरण को विस्तृत अधिकारिता दी जानी संभाव्य है। वर्तमान में न्यायालय विश्वविद्यालय और सरकार के बीच के विवादों, कुलपतियों की नियुक्ति या अनियुक्ति से उत्पन्न होने वाले विवादों और कुलाधिपति तथा कुलपति के बीच के विवादों का विचारण नहीं करते, जिन्हें अधिकरण के कार्यक्षेत्र में लाना प्रस्तावित है। वर्तमान में ये विवाद साधारणतः न्यायालय में नहीं पहुंचाते और प्रभावित व्यक्ति को उनके साथ जीना होता है। पर्याप्त कार्य की अनुपलब्धता की चिन्ता तत्काल समाप्त हो जाती है।

5.11 एक और शिकायत व्यक्त की गई है। यह बात जोर देकर की गई है कि जिस क्षण न्यायालय के संरक्षण का आवरण हटा दिया जाता है और अधिकरण स्थापित किया जाता है, अधिकरण का राजनीतिकरण होने में अधिक समय नहीं लगेगा और वह अपनी विश्वसनीयता खो देगा। यह आशंका उस निकाय के, जिसमें अधिकरण में नियुक्त किए जाने के लिए कार्मिकों के चयन की शक्ति बैठित की जाती है, बारे में जानकारी के अभाव के कारण उत्पन्न हुई मानी जा सकती है। एक व्यक्ति, एक मत, एक मूल्य वाले समाज में शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हो जिसके कोई राजनैतिक विचार न हो। बुद्धिमत्तापूर्ण राजनैतिक विचार ही समाज की जागृति का पैमाना है। राजनैतिक विचार रखना किसी आदमी को राजनीतिज्ञ नहीं बना देता। राजनीतिकरण की स्थिति को इच्छातीत नहीं बनाया जा सकता वरन् उसके विरुद्ध संरक्षण किया जा सकता है।

5.12 विचारविमर्श से उदभूत लाभों और हानियों का तुलनपत्र स्पष्टतः यह दर्शाता है कि सन्तुलन सकारात्मक दृष्टि के पक्ष में झुका हुआ है। प्रत्याशित आशंका की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए अपितु यह सुनिश्चित करने के लिए सावधानी अवश्य बरती जानी चाहिए कि वह मूर्तरूप धारण नहीं कर लेती अतः विधि आयोग अपने प्रस्तावों पर गुणदोषों के आधार पर विचार करने के लिए अग्रसर होता है।

अध्याय 6

उपागम/दृष्टिकोण

6.1. जिस समय से ब्रिटिश ने भारत पर अपनी पकड़ मजबूत की, अपना विजय अभियान पूरा करने के लिए उन्होंने इस देश में अनेक संस्थाएं स्थापित कीं जो संयुक्त राज्य की तत्समान प्रतिमानों पर आधारित थीं। एक ऐसा क्षेत्र, जिसमें सम्पूर्ण अंग्रेजी प्रतिमान स्थापित किया गया, वह भारत की विधि पद्धति थी। अनेक कानून बनाए गए जिनमें से अधिकांश संयुक्त राज्य के तद्विषयक कानून की पुस्तक की प्रतिकृति थीं। एक बार इस प्रकार कानून बना दिए जाने पर, विधियों के लिए न्यायाधिकरण की स्थापना विधिक पद्धति के प्रारम्भ होने के ठीक पश्चात् की गई। इस देश में न्याय पद्धति अधिकांशतः ब्रिटिश न्यायालयों की प्रतिकृति थी। साक्ष्य के संबंध में, सिवाय यह कहने के कि न्यायालय का ब्रिटिश प्रतिमान राज्य की न्यायिक शक्ति का प्रयोग करने के लिए राज्य द्वारा स्थापित न्यायालय में राज्य द्वारा नियुक्त न्यायाधीश के स्वरुप का था और आगे विचार करना आवश्यक नहीं है। अपील अधिकरणों का सृजन न्यूनाधिक रूप से संयुक्त राज्य के अपील न्यायालय के आधार पर किया गया और प्रिवी काउन्सिल ने उपनिवेशों की अपीलों के लिए हाउस ऑफ लार्डस की भूमिका निभाई। इस प्रतिमान ने, ब्रिटिश पूर्वोदाहरणों का बिना कोई आक्षेप किए, अनुसरण किए जाने को एक बहुत बड़ी सीमा तक अपरिहार्य आवश्यकता बना दिया।

6.2. स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर आज तक, कुछ गौण परिवर्तनों के साथ वे ही प्रतिमान कार्यरत हैं। आधारिक स्तर पर राज्य न्यायालय हैं। मूल तथा अपीली अधिकारिता का प्रयोग करने वाले जिला न्यायालय हैं। राज्य स्तर पर उच्च न्यायालय हैं जिन्हें मूल और अपीली दोनों अधिकारिता है और न्यायिक पिरामिड के शीर्ष पर उच्चतम न्यायालय है।

6.3. सभी लोग यह मानते हैं कि यह पद्धति निष्प्रभावी हो गई है और उससे आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। वर्तमान विधि आयोग द्वारा इस स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण अपनी प्रथम रिपोर्ट में किया गया है।[59] अतः विधि आयोग नए प्रतिमान की खोज में था। नए प्रतिमान की खोज को मुख्यतः दो उद्देश्यों को पूर्ति करना थी जिसके लिए विधि आयोग को न्यायिक सुधारों की सिफारिश करने के लिए कहा गया। प्रथम और महत्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि एकाश्म न्याय प्रशासन का विकेन्द्रीकरण किया जाए। द्वितीयतः, जहां भी संभव हो सहभागी प्रतिमान तैयार किए गए। तद्नुसार विधि आयोग ने एक सहभागी प्रतिमान तैयार किया जिसका पूर्ण उल्लेख उसकी रिपोर्ट में किया गया है।[60] वे आधार और कारण, जो प्रशासन में विकेन्द्रीकरण लागू करते हुए ऐसे सहभागी प्रतिमान की सिफारिश करने के लिए तर्कपूर्ण प्रतीत हुए, आवश्यक परिवर्तनों सहित यहां भी लागू होंगे और, इसलिए यहां उनकी पुनरावृत्ति करना निरर्थक होगा।

6.4. संक्षेप में, विधि आयोग का दृष्टिकोण यह है कि जहां कतिपय क्षेत्रों में उद्भूत होने वाले विवादों के निराकरण के लिए विशेषज्ञीय ज्ञान पूर्व अपेक्षा हो, वहां विवादों के निराकरण के लिए न्यायाधिकरण, राज्य द्वारा स्थापित एकाश्म न्यायिक न्यायालय नहीं होने चाहिए वरन् सहभागी प्रतिमान होना चाहिए जिसमें वे विशेषज्ञ, जिन्हें उस क्षेत्र में उद्भूत होने वाले विवादों की प्रकृति का अपेक्षित ज्ञान है, विवादों के निराकरण में न्यायिक कार्मिकों पर परस्पर प्रभाव डाल सकें। विशेषज्ञों का संघ विवादों के निराकरण में अपना विशेषज्ञीय ज्ञान उपलब्ध करा सकेगा। और उसके कारण विवादों का निराकरण अविलंब और प्रभावी हो सकेगा। विधि आयोग ने, विचार-विमर्श के दौरान उसे दिए गए विभिन्न सुझावों का परीक्षण करने के पश्चात्, विधि आयोग इस बात से पूरी तरह आश्वस्त है कि उन विवादों के, जो शिक्षा के क्षेत्र में उद्भूत होते हैं, निराकरण के लिए विशेषज्ञ ज्ञान अपेक्षित है। आयोग इस बात से भी आश्वस्त है कि ऐसे विवादों को उच्च न्यायालय को सम्मिलित करते हुए सामान्य न्यायालयों की अधिकारिता से अपवर्जित कर दिया जाना चाहिए। स्पष्टतः, विनिर्दिष्टतः और विश्वासपूर्वक यह कहा जा सकता है कि ऐसे सहभागी प्रतिमान के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ के, जो देश के समस्त विश्वविद्यालयों का प्रतिनिधित्व करने वाला निकाय है, समर्थन को सम्मिलित करते हुए सभी का सर्वसम्मत समर्थन प्राप्त था। विसम्मति न्यायाधिकरण के गठन के प्रश्न पर है, उसके प्रतिमान पर नहीं। दूसरे शब्दों में, इस बारे में निकटस्थ सर्वसम्मति थी कि शिक्षा के क्षेत्र में उद्भूत होने वाले विवादों के निराकरण के लिए न्यायाधिकरण का स्वरुप सहभागिक होना चाहिए। इस बारे में भी समान सर्वसम्मति थी कि एक बार न्यायाधिकरण बन जाने पर उच्च न्यायालयों की अधिकारिता को सम्मिलित करते हुए सामान्य न्यायालयों की अधिकारिता अपवर्जित हो जानी चाहिए।

1500 L & J/88—4

6.5. इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत वह पद्धति भी दर्शाई जानी चाहिए जिसके द्वारा भारत सरकार, यदि वह ऐसा विचार करती है, उन सिफारिशों को जो इसमें की गई हैं कार्यान्वित कर सकती है। यह रिपोर्ट उन रिपोर्टों की श्रृंखला की एक कड़ी है जो विधि आयोग द्वारा उसे सौंपे गए व्यापक न्यायिक सुधारों की सिफारिश करने के अपने कार्य के निष्पादन में प्रस्तुत की गई हैं। विचारविमर्श में यह बताया गया कि "शिक्षा" विषय के संबंध में कार्यवाही साधारणतः राज्यों द्वारा की जाती है और "शिक्षा" विषय का अनुच्छेद 323-ख में उल्लेख होने से केन्द्रीय सरकार को इस रिपोर्ट में परिकल्पित और उसके भाग में अनुशंसित शिक्षा अधिकरण स्थापित करने हेतु कोई विधान अधिनियमित करने की शक्ति नहीं होगी। निर्विवाद रूप से अनुच्छेद 323-ख में जिसमें वे विषय प्रगणित किए गए हैं जिनके संबंध में समुचित विधान-मण्डल, विधि द्वारा, यह उपबन्ध कर सकता है कि किन्हीं विवादों, शिकायतों या अपराधों का न्यायनिर्णयन या विचारण अधिकरण द्वारा किया जाएगा, "शिक्षा" को एक विषय के रूप में प्रगणित नहीं किया गया है। इस पहलू पर ध्यान आकर्षित करने के पश्चात् दृढ़तापूर्वक यह कहा गया कि भले ही विधि आयोग ऐसा अधिकरण स्थापित की जाने की सिफारिश करे, केन्द्रीय सरकार, जिसको वह अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है, शक्ति के अभाव में रिपोर्ट में की गई सिफारिशों को कार्यान्वित करने में असमर्थ रहेगी और यह कि यह रिपोर्ट फिजूल की कसरत होगी।

6.6. विधि आयोग को, न्याय पद्धति को ध्वस्त होने से बचाने की दृष्टि से पूर्ण और व्यापक न्यायिक सुधारों की सिफारिश करने का कार्य सौंपा गया है। इस रिपोर्ट का मुख्य उद्देश्य न्यायिक सुधारों की दिशा में एक और कदम बढ़ाना है। विधि आयोग को न्यायिक सुधारों का अध्ययन करने के लिए सौंपे गए निर्देश पदों में यह विनिर्दिष्ट है कि आयोग उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय में कार्य के परिमाण को कम करने की दृष्टि से न्यायिक सोपानकी के भीतर अन्य स्तर या पद्धतियों का सुझाव दे सकता है, और इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए आयोग उन विषयों की सिफारिश कर सकता है जिनके लिए संविधान के अनुच्छेद 94-क में परिकल्पित किए गए अनुसार अधिकरणों की अविलंब स्थापना की जाना आवश्यक है। न्यायिक सुधार न्याय प्रशासन को सुधारने के लिए उद्दिष्ट हैं। संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 के, जो 13 जनवरी, 1977 को प्रवृत्त हुआ, अधिनियमित किए जाने के पूर्व राज्य सूची की प्रविष्टि इस प्रकार थी।

> "न्याय प्रशासन, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को छोड़कर सभी न्यायालयों का गठन और संगठन, उच्च न्यायालय के अधिकारी और सेवक; भाटक और राजस्व न्यायालयों में प्रक्रिया; उच्चतम न्यायालय को छोड़कर समस्त न्यायालयों में ली जाने वाली फीस।"।

संशोधन के पश्चात् से शब्द "न्याय प्रशासन", उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को छोड़कर सभी न्यायालयों का "गठन और संगठन" का लोप कर दिया गया। इसके साथ ही, उसी संशोधन द्वारा, उसी तारीख से प्रभावी प्रविष्टि 11क समवर्ती सूची में पुरःस्थापित की गई, जो इस प्रकार है :—

> "न्याय प्रशासन; उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय से भिन्न सभी न्यायालयों का गठन और संगठन।"

पुनः, पूर्वोक्त संशोधन के पूर्व, राज्य सूची की प्रविष्टि 11 इस प्रकार थी :—

> "सूची 1 की प्रविष्टि 63, 64, 65 और 66 और अनुसूची 3 की प्रविष्टि 25 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, शिक्षा, जिसके अन्तर्गत विश्वविद्यालय है।"

इस संशोधन के पश्चात् से, राज्य सूची की प्रविष्टि 11 का लोप कर दिया गया और समवर्ती सूची की प्रविष्टि 25, जिसमें संशोधन के पूर्व केवल "श्रमिकों के व्यावसायिक और तकनीकी प्रशिक्षण" के लिए उपबन्ध था, निम्नानुसार पुनः अधिनियमित की गई :

> "सूची की प्रविष्टि 63, 64, 65 और 66 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, शिक्षा जिसके अन्तर्गत तकनीकी शिक्षा, आयुर्विज्ञान शिक्षा और विश्वविद्यालय शिक्षा है, श्रमिकों का व्यावसायिक और तकनीकी प्रशिक्षण।"

मूल विषय "श्रमिकों का व्यावसायिक और तकनीकी प्रशिक्षण" बनाए रखा गया है।

6.7. प्रविष्टियों का उल्लेख करने के पश्चात् यह बताया जा सकता है कि यदि संसद् ऐसी विधि अधिनियमित करने की वांछा करती है, जो सत्व और सार की दृष्टि से न्याय प्रशासन के विभिन्न स्वरूपों से संबंधित हो, तो प्रविष्टि 11-क संसद् को ऐसी विधि बनाने की शक्ति से सुसज्जित करेगी। विषय यहीं समाप्त नहीं हो जाता है। यदि उन विवादों के बारे में, जिनमें अन्य शिक्षण संस्थाओं के अलावा विश्वविद्यालय अन्तर्वलित हैं, इसमें अनुशंसित शिक्षा अधिकरण बनाया जाता है और मुख्यतः शिक्षा विषय से संबंधित रहता है तो उस विषय पर उसके समवर्ती सूची में होने के कारण संसद्, न्याय प्रशासन के लिए उपबन्ध करने के अपने दायित्व के निर्वहन में, शिक्षा के क्षेत्र में उद्भूत होने वाले विवादों के निराकरण के विषय में संबंधित विधि बनाने में सक्षम है। संक्षेप में समवर्ती सूची की प्रविष्टि 11-क और संशोधित प्रविष्टि 25 का संयुक्त पठन, निर्विवाद रूप से संसद् को इस रिपोर्ट में चर्चित और अनुशंसित अधिकरण स्थापित करने के लिए विधान बनाने की शक्ति से सज्जित करता है। इस विषय पर इस दृष्टिकोण को दृष्टिगत रखते हुए, अनुच्छेद 323क में विषय "शिक्षा" न होने का कोई महत्व नहीं है।

अध्याय 7

निष्कर्ष और सिफारिशें

7.1. विषय पर खुले मस्तिष्क से, पक्षपातपूर्ण या प्रतिकूल पूर्वाग्रह से मुक्त होकर विचार करने और पक्ष और विपक्ष में दिए गए तर्कों और सभी पहलुओं के पक्षापक्ष को ध्यान में रख कर, विधि आयोग इस बात से आश्वस्त है कि न्याय पद्धति के व्यापक हित में तथा शिक्षा केन्द्रों के हित में और लोकहित में, शिक्षा के क्षेत्र में उद्भूत होने वाले विवादों के निराकरण के लिए एक पृथक् और विशिष्ट प्रतिमान आज के समय की आवश्यकता है। यदि ऐसे न्यायाधिकरण की योजना बनाई जानी है तो विधि आयोग को, अपनी रिपोर्ट को व्यापक बनाने की दृष्टि से, उसकी संरचना, गठन, अधिकारिता और उन व्यक्तियों की, जो अधिकरण में रखे जाएंगे, नियुक्तियां करने की शक्ति से वेष्टित प्राधिकरण के बारे में उल्लेख अवश्य करना चाहिए।

संरचना

7.2. विधि आयोग की राय यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में सभी प्रकारों के विवादों के संबंध में कार्यवाही करने के लिए त्रि-स्तरीय संरचना आवश्यक होगी। इन तीन स्तरों के अन्तर्गत आधारिक स्तर, राज्य स्तर और अखिल भारतीय स्तर होंगे।

7.3. संरचना के प्रश्न पर विचार करते समय यह अविलंब बता दिया जाना चाहिए कि प्रस्तावित केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण शिकायत-कार्यवाही तन्त्र के स्थान पर स्थापित नहीं किया जाएगा जिसकी प्रत्येक विश्वविद्यालय की व्यवस्था विश्वविद्यालय और उसके विद्यार्थियों, विश्वविद्यालय और उसके अध्यापन संकाय के सदस्यों, विश्वविद्यालय और उसके कर्मचारियों के बीच उद्भूत होने वाले विवादों को तय करने के लिए आधारिक स्तर पर न्यायाधिकरण के रूप में अवश्य करनी चाहिए। उस तक आसानी से और अविलंब पहुंच होनी चाहिए और उसका स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो उसके समक्ष आने वाले विवादियों में विश्वास उत्पन्न कर सके। अतः प्रथम चरण में, प्रत्येक विश्वविद्यालय को शिकायत कार्यवाही न्यायाधिकरण अवश्य स्थापित करना चाहिए। उसे इस सीमा तक सहभागी प्रतिमान का होना चाहिए कि विश्वविद्यालय के सभी प्रभावित हितों का उसमें प्रतिनिधित्व हो, और जिस तक पहुंचने में किन्हीं तकनीकियों के कारण कोई बाधा न हो। उसे नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। उसे विवादों के संबंध में अविलम्ब कार्यवाही करनी चाहिए। उसे अपने विनिश्चिय के कारण देने चाहिएं। विधि आयोग को कोई विनिर्दिष्ट प्रतिमान बनाने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक विश्वविद्यालय द्वारा बनाए जाने वाले प्रतिमान को पूर्वोक्त न्यूनतम अपेक्षाओं की पूर्ति अवश्य करनी चाहिए। एक अत्यन्त आवश्यक बात, जिसकी व्यवस्था विश्वविद्यालय को करनी चाहिए, वह यह है कि उसके समक्ष आने वाले विवाद युक्तियुक्त रूप से अल्प समय में, जो किसी भी दशा में छह मास से अधिक नहीं होना चाहिए, निराकृत किए जाने चाहिए।

7.4. मोटे तौर पर, शिकायत-कार्यवाही तन्त्र को इस स्थिति में होना चाहिए कि वह विश्वविद्यालय और संबद्ध महाविद्यालयों, परीक्षाओं में कदाचार, विद्यार्थियों के विरुद्ध अनुशासिक कार्यवाही और यहां तक कि अध्यापन कर्मचारिवृन्द के सदस्यों के विरुद्ध विद्यार्थियों की शिकायतों के या प्रभावपूर्ण शिक्षा कार्यक्रम के लिए सुविधाओं की अपर्याप्तता जैसी समस्याओं के संबंध में विचार कर सके। इस न्यायाधिकरण में, विश्वविद्यालय और उसके अध्यापन संकाय के सदस्यों के बीच के तथा संबद्ध महाविद्यालयों और उसमें नियोजित शिक्षकों के बीच के विवादों, जिनके अन्तर्गत सेवा की साधारण शर्तों के सभी पहलू हैं, किन्तु, जिनमें वेतन मान, मंहगाई भत्ता और अन्य पर्क सम्मिलित नहीं हैं, विचार करने के लिए पृथक् खण्ड होना चाहिए।

7.5. ऊर्वस्थ सोपानिकी में दूसरा स्तर राज्य स्तर पर क्रियाशील होना चाहिए। एक प्रक्रम पर, विधि आयोग इस सुझाव से प्रभावित नहीं था कि राज्य स्तरीय अधिकरण आवश्यक है। किन्तु यह कहा गया कि सरल अभिगम्यता के लिए एक राज्य स्तरीय अधिकरण अपरिहार्यतः आवश्यक है। यह आशंका की गई कि इसके अभाव में, वे सभी छोटे विवाद, जिन पर आधारिक स्तर पर विचारण किया गया है, केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण में जाएंगे और उसकी कार्यसूची को बोझिल बनाएंगे। इस दृष्टिकोण में संवेदनाशीलता और तर्क परिलक्षित होता है। अतः यद्यपि विधि आयोग द्वारा जारी किए गए कार्यपत्र में राज्य स्तरीय अधिकरण परिकल्पित नहीं था, राष्ट्रीय विचारविमर्श एक ऐसा अधिकरण स्थापित किए जाने का समर्थन करता है। तदनुसार, प्रत्येक राज्य एक राज्य स्तरीय शिक्षा अधिकरण स्थापित करेगा। उसे मूल और अपीलीय दोनों अधिकारिता होगी। जहां विश्वविद्यालय के शिक्षकों, विद्यार्थियों और प्रशासकों

को प्रभावित करने वाले नीति विषयक महत्वपूर्ण मामले अन्तर्वेहित हों, वहां वह विषय मूल अधिकारिता का प्रयोग करने वाले राज्य स्तरीय शिक्षा अधिकरण के समक्ष लाया जा सकता है। आयोग के मस्तिष्क में जो बात है वह यह है। प्रत्येक राज्य में अनेक विश्वविद्यालय हैं। इन विश्वविद्यालयों के कुलपति उनके क्रियाकलापों में समन्वय स्थापित करते हैं। इसके बाद भी ऐसी समस्याएं होती हैं जहां एक ओर विश्वविद्यालय के प्रशासकों, दूसरी ओर शिक्षकों और तीसरी ओर विद्यार्थी सामान्य समस्याओं के बारे में किसी हल पर पहुंचने में असमर्थ रहते हैं, उदाहरणस्वरूप परीक्षा की तारीख या उसका स्थगित किया जाना। ऐसी समस्याएं राज्य स्तरीय शिक्षा अधिकरण के समक्ष लाई जा सकती हैं। यह दृष्टिकोण निराशा की स्थितियों का निराकरण करने में सहायक होगा और प्रत्येक संभावित विवाद, चर्चा और समाधानप्रद हल की विषय वस्तु हो सकेगा।

7.6. राज्य स्तरीय अधिकरण को विश्वविद्यालय स्तरीय शिकायत-कार्यवाही न्यायाधिकरण के विनिश्चयों पर अपीलीय अधिकारिता भी होगी।

7.7. शीर्षस्थ स्तर पर, केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण या राष्ट्रीय शिक्षा अधिकरण जो भी नाम उसकी प्रास्थिति और अवस्थिति के उपयुक्त हो, होना चाहिए। राष्ट्रीय स्तरीय अधिकरण को भी मूल और अपीलीय दोनों अधिकारिता होगी। राज्य स्तरीय अधिकरण के विनिश्चय के विरुद्ध अपील राष्ट्र स्तरीय अधिकरण को होगी। उसकी मूल अधिकारिता इस अध्याय में शीर्षक "अधिकारिता" के अन्तर्गत विस्तृत रूप से वर्णित की जाएगी।

गठन

7.8. यह धूमिल क्षेत्र है। अधिकरणों की स्थापना की जाने की सिफारिश करने वाले विधि आयोग के प्रस्ताव के विरुद्ध मानता ऐसे अधिकरणों की संभावित गठन से उद्भूत होते हैं। अधिकांशत उसके प्रतिमान पर आक्षेप नहीं किया गया है। आशंका यह है कि उस अधिकरण में, जो न्यायालयों के स्थान पर स्थापित किया जाएगा, ऐसे व्यक्ति नियुक्त किए जाएंगे जो विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। पहले से ही इस प्रकार की भर्त्सना अनपेक्षित है। किन्तु उसके पीछे जो आशंका है, उस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। निःसंदेह, यह सत्य है कि अधिकरण न्यायालयों के स्थान पर नियुक्त किए जाएंगे और वे संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन उनके कृत्यों का पर्यावेक्षण करने वाले उच्चतम न्यायालय के क्षेत्र के अधीन क्रियाशील रहेंगे। फिर भी, निःसंदेह, इसमें परिकल्पित इन अधिकरणों की स्थापना हो जाने पर उच्च न्यायालय के स्तर तक के सभी न्यायालयों की अधिकारिता अपवर्जित हो जाएगी। चूंकि उच्च न्यायालय के स्तर तक के सभी न्यायालयों की अधिकारिता अपवर्जित की जा रही है, इन अधिकरणों के गठन की सिफारिश करने में उच्चतम न्यायलय द्वारा प्रकट की गई चेतावनी को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। पुनः स्मरण करते हुए, यह कहा गया है कि न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का मूक और आवश्यक लक्षण है और छोड़ा नहीं जा सकता तथापि यह स्वीकार किया गया कि यदि न्यायिक पुनर्विलोकन को छोड़ा नहीं जा रहा है तो पुनर्विलोकन के लिए उच्च न्यायालय के स्थान पर कोई अन्य वैकल्पिक संस्थागत तन्त्र या व्यवस्था स्थापित करना संसद् की सक्षमता के भीतर है बशर्ते वह उच्च न्यायालय से कम प्रभावी न हो। उच्च न्यायालय के विकल्प के रूप में ऐसे न्यायाधिकरण की व्यवस्था करने की दृष्टि से यह सुझाव दिया गया कि उच्च न्यायालय का स्थान लेने के लिए किसी न्यायिक अधिकरण में जिस बात की आवश्यकता है वह है विधि प्रशिक्षण और अनुभव। तदनुसार, न्यायालय ने प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 की धारा 6(1) के खण्ड (ग) को विखण्डित कर दिया।" अधिकरण के प्रति विश्वास उत्पन्न करने के लिए, न्यायालय ने यह सुझाव दिया कि प्रशासनिक अधिकरण का अध्यक्ष और उपाध्यक्ष या तो जिला न्यायाधीश होना चाहिए या ऐसा अधिवक्ता होना चाहिए जो उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए अर्हित है। न्यायालय ने यह निर्देशित किया कि इस उपबंध को संवैधानिक रूप से विधिमान्य बनाने के लिए ऐसा संशोधन अवश्य किया जाना चाहिए। अधिकरण के गठन के संबंध में सिफारिश करते समय, विधि आयोग ने इस सुझाव को दृष्टिगत रखा है।

7.9. यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि अधिकरणों का गठन ऐसा होना चाहिए जो उसके समक्ष आने वाले विवादियों में विश्वास पैदा कर सके। किन्तु न्यायिक सदस्यों की नियुक्ति का उपबंध करने मात्र से, विधि आयोग की राय में, दूसरा उद्देश्य अर्थात् सामान्य न्यायालयों का प्रतिस्थापित करना और अधिकरणों के साथ विशेषज्ञों को सहयुक्त करना, विफल हो जाएगा। अधिकरणों का स्वरूप और गठन विशेषज्ञ न्यायालयों के स्वरूप का होना चाहिए। अधिकरण के गठन का अवधारण करने में इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति होनी चाहिए।

7.10. तद्नुसार, यह सिफारिश की जाती है कि राज्य स्तरीय अधिकरणों में अध्यक्ष के रूप में उच्च न्यायालय का आसीन या सेवानिवृत्त न्यायाधीश और दो अन्य ऐसे सदस्य होने चाहिएं जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त किए जाने के पात्र हों। शेष दो भूतपूर्व कुलपति और प्रख्यात प्राचार्य की श्रेणी के होने चाहिएं। इस प्रकार अधिकरण में पांच सदस्य होंगे।

7.11. केन्द्रीय/राष्ट्रीय अधिकरण में भी यही विशेषताएं प्रतिबिम्बित होनी चाहिएं। उसमें अध्यक्ष के रूप में भारत

के उच्चत्तम न्यायालय का आसीन या सेवानिवृत्त न्यायाधीश, दो अन्य ऐसे सदस्य, जो भारत के उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किए जाने के पात्र हों, और शेष दो ऐसे विख्यात शिक्षाविदों, भूतपूर्व कुलपतियों और प्रशासकों में से, जिन्होंने शिक्षा की समस्याओं के संबंध में कार्यवाही की है और प्रख्यात आचार्य में से होना चाहिए।

7.12. यह कहना अनावश्यक है कि राज्य स्तरीय अधिकरण और राष्ट्र स्तरीय अधिकरण दोनों ही का अपना स्वयं का एक सचिवालय होना चाहिए।

7.13. राज्य और केन्द्रीय/राष्ट्रीय शिक्षा अधिकरण की जो सदस्य संख्या इसमें उपदर्शित की गई है, पालन प्रारम्भ के समय पहली बार किया जाना चाहिए। कार्यभार और अन्य आनुषंगिक आवश्यकताओं पर निर्भर करते हुए, संख्या में कार्यभार के अनुरूप वृद्धि की जा सकती है, किन्तु गठन के संबंध में अधिकरण की आवश्यक विशेषताओं को बनाए रखते हुए सुस्पष्टतः किसी ऐसे प्रवर्ग से किया जाने वाला चयन अन्य प्रवर्गों की तुलना में अनुपातन अधिक नहीं होना चाहिए। यह भी स्पष्ट किया जाना आवश्यक है कि अधिकरण को एक साथ बैठने की आवश्यकता नहीं है, वरन वे खण्डपीठों में इस पूर्व अपेक्षा के अधीन रहते हुए बैठ सकते हैं कि उस खण्डपीठ का एक सदस्य आवश्यक रूप से न्यायिक सदस्य होना चाहिए।

अधिकारिता

7.14. राज्य स्तरीय अधिकरण की अधिकारिता कुछ पूर्व विनिर्दिष्ट की गई है। राष्ट्र स्तरीय अधिकरण को मूल अधिकारिता होनी चाहिए जहां महत्वपूर्ण नीतिविषयक प्रश्नों का परीक्षण किया जा सकता है। इस संबंध में, भारतीय विश्वविद्यालयों के संघ ने यह राय व्यक्त की है कि "कुलपतियों के राज्य सरकार के साथ संबंध, वित्तीय विषय, विश्वविद्यालय का विश्वविद्यालय अनुदान के साथ संबंध, कुलपति का कुलाधिपति से संबंध आदि, नीति विषयक प्रश्न हैं।" उसने सुझाव दिया कि इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रेस परिषद् और विधिज्ञ परिषद् पर आधारित प्रतिमानों पर विचार किया जा सकता है। विधि आयोग की राय में, ऐसे नीति विषयक मामलों को भी, जिन पर मतभेद उत्पन्न होते हैं, उनको राज्य स्तरीय व्याप्ति या राष्ट्र स्तरीय व्याप्ति पर निर्भर करते हुए, यथास्थिति, इस राज्य स्तरीय अधिकरण या राष्ट्र स्तरीय अधिकरण के समक्ष लाया जा सकता है। इस बात को उदाहरण सहित प्रस्तुत करने के लिए अभी हाल ही में हुई अखिल भारतीय शिक्षकों की हड़ताल का उल्लेख किया जा सकता है जो दो मास तक चली यह हो हो सकता है कि भारत सरकार की राय यह थी कि हड़ताल न्यायोचित नहीं थी। यह समान रूप से संभव है कि शिक्षक यह विश्वास करते हैं कि उनके साथ कठोर व्यवहार किया गया है। ये व्यष्टिक शिकायतें नहीं हैं। नीति विषयक मामलों पर विभिन्न प्रकार की राय हो सकती है। किन्तु अन्ततः टकराव होता है जिससे यह समझा जा सकता है कि कोई विवाद अवश्य है जिसका निराकरण किया जा सकता है। राष्ट्र स्तरीय अधिकरण को नीति विषयक मामलों की अधिकारिता भी दी जा सकती है। एक और उदाहरण दिया जा सकता है, धीरे-धीरे यह शिकायत उभर कर सामने आई है कि कुलपतियों के चयन के मामले में कुछ कदाचरण होते हैं और वह चयन पर प्रतिबिम्बित होता है जिससे अन्ततः कुलपति के पद की महत्ता कम होती है। निःसंदेह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के समान निकाय विद्यमान है। किन्तु राष्ट्र स्तरीय अधिकरण को जो, सामान्यतः प्रभावित हितों का प्रतिनिधित्व करता है और जिसकी अध्यक्षता अत्यधिक प्रशिक्षित न्यायिक मस्तिष्क द्वारा की जाती है, कुलपतियों के चयन के विषय में मार्गदर्शी सिद्धान्त अधिकथित करने का कार्य सौंपा जा सकता है। इसी प्रकार, निकट भविष्य में अखिल भारतीय शिक्षा सेवा स्थापित करने के प्रस्ताव पर गंभीरता से विचार करना पड़ सकता है। ऐसी सेवा की स्थापना करने में जो समस्याएं हैं उन्हें राष्ट्र स्तरीय अधिकरण द्वारा भलीभांति निपटाया जा सकता है। राष्ट्र स्तरीय अधिकरण को ऐसी विस्तृत अधिकारिता दी जानी चाहिए।

नियुक्ति की शक्ति

7.15. राज्य स्तरीय अधिकरण और राष्ट्र स्तरीय अधिकरण दोनों में न्यायिक और न्यायिकेतर सदस्य रखे जाएंगे। न्यायिक सदस्यों की नियुक्तियों की सिफारिश करने के लिए शक्ति का केन्द्र ढूंढ़ना आसान है।

7.16. विधि आयोग ने राष्ट्रीय न्यायिक सेवा आयोग स्थापित किए जाने के संबंध में एक व्यापक रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इस नियय को सभी स्तरों पर न्यायालयों की नियमित सोपानिकी में न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में प्रभावशाली भूमिका प्राप्त होने जा रही है। अतः, इस निकाय को राज्य स्तरीय और राष्ट्र स्तरीय अधिकरणों में न्यायिक सदस्यों का नियुक्ति के लिए सिफारिश करने का कार्य विश्वासपूर्वक सौंपा जा सकता है।

7.17. जहां तक न्यायिकेतर सदस्यों की नियुक्ति का प्रश्न है, राज्यपाल, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के परामर्श से, राज्य स्तरीय अधिकरण के न्यायिकेतर सदस्यों की नियुक्ति करेगा। इसी प्रकार, भारत का राष्ट्रपति, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के परामर्श से राष्ट्र स्तरीय अधिकरण के सदस्यों की नियुक्ति करेगा। नियुक्ति की इस पद्धति से इस संबंध में किसी भी शंका का निराकरण हो जाएगा।

7.18. राज्य स्तरीय और राष्ट्र स्तरीय शिक्षा अधिकरणों को प्रदान की गई व्यापक अधिकारिता को देखते हुए, दोनों ही स्तरों पर पर्याप्त कार्यभार हो जाएगा। तथापि, उच्चतम न्यायालय को छोड़कर, सभी न्यायालयों में लंबित सभी मामलों को उन अधिकरणों को अन्तरित किया जाना आवश्यक है जो स्थापित किए जाएं। अतः शिक्षा संबंधी ऐसे समस्त मामले, जो उच्चतम न्यायालय को छोड़कर सभी न्यायालयों में लंबित हैं, इस संबंध में अधिकारिता रखने वाले संबंधित अधिकरणों को अन्तरित हो जाएंगे।

7.19. विकासशील आर्थिक व्यवस्था में शिक्षा सामाजिक अर्थव्यवस्था है और इसलिए राज्य स्तरीय अधिकरण का व्यय राज्य सरकार द्वारा वहन किया जाएगा और राष्ट्र स्तरीय अधिकरण का भारत संघ द्वारा।

7.20. इसमें उपदर्शित परिवर्तनों द्वारा अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता अक्षुण्ण बनी रहेगी।

7.21 हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

हस्ता०/-

डी० ए० देसाई—अध्यक्ष

हस्ता०/-

बी० एस० रमा देवी—सदस्य सचिव

नई दिल्ली,

दिनांक 15 जनवरी, 1988

निर्देश

1. भारत के विधि आयोग की 122वीं रिपोर्ट।
2. रोमन टोमैसिक एण्ड मैल्काम एन० फीले, नेबरहुड जस्टिस पृ० (9)।
3. तदैव, पृ० (9)।
4. शिक्षा आयोग (कोठारी आयोग) की रिपोर्ट, 1966 श्री डी० एस० कोठारी का अग्रेषण पत्र 29 जून, 1966।
5. नेशनल पालिसी ऑन एजूकेशन, 1986, पृ० (1)।
6. तदैव, पृ० (3)।
7. मद्रास राज्य वि० चम्पाकम दोराईराजन, 1951 उच्च० न्याया० रिपोर्ट 526।
8. एम० आर० बालाजी वि० मैसूर राज्य, ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 649।
9. टी० देवदासम वि० भारत संघ, ए० आई० आर० 1964, एस० सी० 179।
10. आर० चित्रलेखा वि० मद्रास राज्य, ए० आई० आर० 1964, एस० सी० 1823।
11. विलोकी नाथ वि० जम्मू और कश्मीर राज्य, ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1।
12. ए० पेरिया करूप्पन वि० तमिलनाडु राज्य, ए० आई० आर० 1971, एस० सी० 2303।
13. आन्ध्र प्रदेश राज्य वि० यू० एस० सी० बलराम, ए० आई० आर० 1972, एस० सी० 1375।
14. जानकी प्रसाद परीमू वि० जम्मू और कश्मीर राज्य, ए० आई० आर० 1973, एस० सी० 930।
15. उत्तर प्रदेश राज्य वि० प्रदीप टंडन, ए० आई० आर० 1975, एस० सी० 563।
16. के० एस० जयश्री वि० केरल राज्य ए० आई० आर. 1976, एस० सी० 2381।
17. के० सी० वसन्तकुमार वि० कर्नाटका राज्य ए० आई० आर० 1983, एस० सी० 1495।
18. डा० प्रदीप जैन वि० भारत संघ ए० आई० आर० 1984, एस० सी० 1420।
19. संविधान सभा डिबेट खण्ड 3, पृ० 448।
20. डा० दिनेश कुमार वि० मोतीलाल नेहरु मेडिकल कालेज, [इलाहाबाद 1985, (3)] एस० सी० 22।
21. डा० दिनेश कुमार वि० मोतीलाल नेहरू मेकडिल कालेज, ए० आई० आर० 1986, एस० सी० 1877।
22. केरल राज्य और एक अन्य वि० कल्पक्कक जान एड्रियू और अन्य, 1982, (1) 530।
23. स्मिता जानभाई मास्टर और अन्य वि० गुजरात राज्य और अन्य 1981, (4), एस० सी० सी०।
24. ऊपर का निर्देश 10, पृ० 1831 पर
25. ————————"————————12 पृ० 2307, पर।
26. अजय हासिया वि० खालिद मुजीद सोहरावर्दी, 1981 (1) एस० सी० सी० 722, पृ० 746 पर।
27. निशी माधू वि० जम्मू और कश्मीर राज्य, 1984, एस० सी० आर० 95।
28. कौशल कुमार गुप्ता वि० जम्मु और कश्मीर, ए० आई० आर० 1984, एस० सी० 1656।
29. डा० एन० सी० गुप्ता वि० डा० अरूण कुमार गुप्ता, 1979, (2) एस० सी० सी० 339।
30. प्रिन्सिपल किंग जार्ज मैडिकल कालेज, लखनऊ वि० विशन कुमार अग्रवाल और अन्य ए० आई० आर० 1984, एस० सी० 221।
31. डा० मुजीबुल रहमान हसन और अन्य वि० जम्मू और कश्मीर सरकार और अन्य, ए० आई० आर० 1984 एस० सी० 1585;
32. हडीवन्धु राउतराव और अन्य वि० उड़ीसा राज्य (1985) 4 एस. सी. सी. 47;
33. राजेन्द्र प्रसाद माथुर वि. कर्नाटक विश्वविद्यालय और अन्य, ए० आई० आर० 1986, एस० सी० 1448।
34. डा० वाई० पी० गुप्ता वि० भारत संघ और अन्य, ए० आई० आर० 1984 एस० सी० 541;
35. सर्वेश नारायण मिश्र वि० कुलपति, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, 1982 (2) एस० सी० सी० 363 और आदेश दि० 27 जुलाई, 1987;
36. विशेश्वर दयाल सिन्हा वि० बिहार विश्वविद्यालय, ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 601;
37. सेंट जेवियर्स विद्यालय वि० गुजरात राज्य, ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1389

अनुगमित आल सेंट्स हाई स्कूल वि० आन्ध्र प्रदेश राज्य, ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1042;

38. फ्रेंक एन्थानी पब्लिक स्कूल कर्मचारी संघ वि० भारत संघ, 1986 (4) एस० सी० सी० 707;

39. अजीज बाशा वि० भारत संघ, ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 662;

40. डी० ए० बी० कालेज जालंधर वि० पंजाब राज्य, ए० आई० आर० 1982 पंजाब और हरयाणा 439;

41. टाइम्स आफ इंडिया, 15 दिसबर, 1987 पृ० 15;

42. एलिजाबेथ सी० राईट, "कोर्टस एण्ड यूनिवर्सटी: इम्पेक्ट आफ लिटीगेशन आन यूनिवर्सिटी एटानामी" 1985, खण्ड 27, पृ० 35;

43. कुलपतियों का सम्मेलन, दिसम्बर 1967, नई दिल्ली, वि० अनु० आ० की रिपोर्ट, पृ० 43,

44. देहली यूनिवर्सटी वि० रामनाथ, ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1873;

45. बंगलोर वाटर सप्लाई एण्ड सीवरेज बोर्ड वि० राजप्पा 1978 (2) एस० सी० सी० 213, पृ० 266 पर;

46. एम० हिदायतुल्लाह, भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायमूर्ति और भारत के भूतपूर्व उपराष्ट्रपति 'ला आफ इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स, द्वारा ओ० पी० गुप्ता के तृतीय संस्करण के प्राकथनों में;

47. तदैव०

48. एस० पी० साठे — कालेज ट्रिबुनल्स इन पुणे एण्ड बाम्बे: ए० सर्वे 1981, आई सी एल एस आर, वेस्टर्न रीजनल सेन्टर, बंबई की प्रस्तुत मोनोग्राफ

49. के० के० दत्ता वि० भारत संघ,ए० आई० आर० 1980, एस०पी० 2056;

50. एस० सी० संपत कुमार वि० भारत संघ, ए० आई० आर० 1987, एस० सी० 386;

51. विश्वविद्यालय समाचार, दि० 23 मार्च, 1987, पृ० 5—10;

52. टाईम्स आफ इण्डिया दि० 4 मई, 1987, उसी तारीख का स्टेट्समेन;

53. प्रमुख राष्ट्रीय दैनिकों के उद्धरणों की जेराक्स प्रतियां

54. पैट्रियाड दि० 3 मई, 1987;

55. विश्वविद्यालय समाचार, दि० 11मई, 1987, पृ० 12-13

56. एस० पी० संपत कुमार वि० भारत संघ, ए० आई० आर० 1987 एस० सी० 386;

57. तदैव, पृ० 389;

58. भारत के विधि आयोग की 114वीं रिपोर्ट

59. भारत के विधि आयोग की 12वीं रिपोर्ट

60. एस. पी० सम्पत कुमार वि० भारत संघ, ए० आई० आर० 1987, एस० सी० 386.

क्रमांक 6(2)(3)/87 वि०आ०

भारत का विधि आयोग,

भारत सरकार

शास्त्री भवन,
(तल क० 7)
नई दिल्ली-110001
मार्च 9, 1987

प्रति,

विषय:—न्याय प्रशासन के विकेन्द्रीकरण पर कार्यपम : उच्च शिक्षा के केन्द्रों को अन्तर्वलित करने वाले विवाद।

महोदय/महोदया,

भारत के विधि आयोग को अन्य बातों के साथ-साथ, यांत्रिक सोपानिकी के भीतर अन्य श्रेणियां या प्रणालियां स्थापित करके न्याय के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता का पता लगाने के दृष्टिकोण से न्यायिक सुधारों का अध्ययन करने और उनके संबंध में सुझाव देने का कार्य सौंपा गया है। उसके अनुसरण में, आयोग संबंधित सरकार, विश्वविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और संबद्ध महाविद्यालयों के आचार्यों और विद्यार्थियों को अन्तर्वलित करने वाले मामलों, मतभेदों और विवादों के संबंध में कार्यवाही करने हेतु, पूर्वोक्त पक्षकारों को अन्तर्वलित करने वाले विवादों के संबंध में कार्यवाही करने की व्यापक अधिकारिता रखने वाले केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण की आवश्यकता का अध्ययन करने का आशय रखता है। तदनुसार, विधि आयोग ने इस सीमित प्रयोजन के लिए प्रश्नावली समाविष्ट करने वाला एक कार्यपत्र तैयार किया है और वह इस विषय पर सभी हितबद्ध व्यक्तियों/निकायों के सुझाव प्राप्त करने में रुचि रखता है। कार्यपत्र की एक प्रति संलग्न है।

2. अतः आयोग आपसे अनुरोध करता है कि आप प्रश्नावली पर अपने विचार इस प्रकार संसूचित करें ताकि वे शीघ्र हो और किसी भी दशा में अधिक से अधिक 30 अप्रैल, 1987 तक आयोग को पहुंच जाएं। आयोग आभारी होगा यदि इसकी प्रतियां तैयार की जाकर संबंधित शिक्षक संघों, विद्यार्थी संघों और अन्य शैक्षिक निकायों को इस अनुरोध के साथ भेज दी जाएं कि वे अपनी राय विधि आयोग को सीधे भेज दें।

भवदीय
हस्ता/वी० एस० रमादेवी

संलग्न—यथाकथित

1500 L & J/88—5

न्याय प्रशासन के विकेन्द्रीकरण : उच्च शिक्षा के केन्द्रों को अन्तर्वलित करने वाले विवाद पर

कार्यपत्र

न्यायिक सुधारों की योजना बनाने और उनकी सिफ़ारिश करने का कार्य, जिसके लिए पृथक् आयोग स्थापित किया जाना था, बाद में विधि आयोग को इस अनुरोध के साथ सौंपा गया कि वह उसे सर्वप्राथमिकता दे। प्रस्तावित न्यायिक सुधार आयोग के लिए तैयार किए गए विभिन्न निर्देश पदों में से एक पद, जिसमें विधि आयोग इस कार्यपत्र में मुख्यतः संबद्ध है, इस प्रकार है:—

"1. (1) विवादों का निराकरण करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में न्याय पंचायत की संस्था या अन्य तन्त्र स्थापित, विस्तारित करके उसे सुदृढ़ बनाकर ;

(2) उपयुक्त क्षेत्रों और केन्द्रों में सुपरिभाषित अधिकारिता और शक्तियों से युक्त सहभागी न्याय पद्धति स्थापित करके ; और

(3) उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में कार्य का परिमाण कम करने के लिए न्यायिक सोपानिकी के भीतर पद्धति की अन्य श्रेणियां स्थापित करके,

न्याय प्रशासन पद्धति के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता।"।

चयन पद क्रमांक 2 द्वारा अधिप्रेरित हो सकता है, जो इस प्रकार है :—

"वे मामले, जिनके लिए संविधान के भाग 14क में यथापरिकल्पित अधिकरणों की (सेवा अधिकरणों को छोड़कर) स्थापना अविलंब की जाना आवश्यक है और उनकी स्थापना और कार्यरण से संबंधित विभिन्न पहलू।"।

2. इस देश में न्यायिक पद्धति नीचे से लेकर ऊपर तक अत्यधिक केन्द्रीकृत और एकीकृत है। परमाधिकार रिट जारी करने की जो शक्ति संविधान के अनुच्छेद 226 द्वारा उच्च न्यायालय को और संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन भारत के उच्चतम न्यायालय को प्रदत्त की गई है, वह उच्च न्यायालय को एक ऐसी संस्था बनाती है जिसमें सभी प्रकार के विवाद अभिसरित होते हैं। उच्च न्यायालय, जो सिविल और दाण्डिक न्याय के प्रभारी हैं, क्रमशः सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 और दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधीन अपीलीय और पुनरीक्षण अधिकारिता का प्रयोग करते हैं। उच्च न्यायालय विशेष कानूनों, जैसे कम्पनी अधिनियम, 1956, पेटेन्ट अधिनियम, 1970 और डिजाइन अधिनियम, 1911 आदि के अधीन मूल अधिकारिता का भी प्रयोग करते हैं। वे विभिन्न कर विधियों, जैसे आय-कर अधिनियम, 1961, दान कर अधिनियम, 1958, संपदा कर अधिनियम, 1957, सीमाशुल्क अधिनियम, 1962 और केन्द्रीय उत्पाद शुल्क और नमक अधिनियम, 1944 के अधीन सलाहकारी अधिकारिता का भी प्रयोग करते हैं। सभी अर्ध न्यायिकल्प अधिकरणों के विनिश्चय उच्च न्यायालय द्वारा उच्च परमादेश रिट जारी करने की संवैधानिक शक्ति के प्रयोग में न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन हैं। यहां तक कि प्रशासनिक विनिश्चय भी अधिकारिता और मूल अधिकारों के अतिक्रमण की संकीर्ण सीमाओं के भीतर, पुनर्विलोकन के अधीन है। उन विभिन्न अधिकारिताओं का, जिनका प्रयोग उच्च न्यायालयों द्वारा किया जाता है, परिणाम यह हुआ है कि उच्च न्यायालयों में कार्य का वेगवान अन्तर्वहन हुआ है। उच्च न्यायालयों के विनिश्चय, संविधान के अनुच्छेद 136 द्वारा प्रदत्त अधिकारिता के प्रयोग में उच्चतम न्यायालय के समक्ष प्रश्नगत किए जाते हैं। उच्च न्यायालयों में लंबित मामलों की अत्यधिक बढ़ती हुई संख्या बहुत अधिक चिन्ता का विषय बन गई है। 30 जून, 1985 को उच्च न्यायालयों में 13,23,719 मामले लंबित थे और 31 दिसम्बर, 1985 को भारत के उच्चतम न्यायालय में 1,66, 319 से अधिक मामले लंबित थे। उच्च न्यायालयों में लंबित 13,23,719 लंबित मामलों में से 2,32,492 मामले पांच वर्ष से अधिक समय से और 32,794 मामले दस वर्ष से अधिक समय से लंबित थे। वास्तव में, लंबित मामलों की अप्रबंधीय संख्या और मामलों के निपटारे में असामान्य विलंब ने कष्ट झेल रहे पक्षकारों और भारत सरकार का ध्यान आकृष्ट किया है। आज की न्याय पद्धति के इन दो निन्दनीय लक्षणों ने न्यायिक सुधार की प्रबल मांग को उत्प्रेरित किया है।

3. विधि आयोग ने, उससे न्याय प्रशासन में मन्दता के संबंध में विचार करने के लिए अपेक्षित किए जाने पर, सर्वप्रथम अपना ध्यान ग्रामीण क्षेत्रों से उत्पन्न होने वाले विवादों पर केन्द्रित किया। विधि आयोग द्वारा एक विस्तृत कार्यपत्र तैयार किया जाकर प्रकाशित किया गया जिसमें ग्रामीण क्षेत्रों से उद्भूत होने वाले विवादों के लिए एक सहभागी प्रतिमान बनाकर प्रकाशित किया गया। राष्ट्रीय

विचार विमर्श के पश्चात् इस संबंध में एक विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की गई है।

4. विधि आयोग की अस्थायी रूप से यह राय थी कि जहां प्रत्येक प्रकार का विवाद उच्च न्यायालय में आता है, वहां न्याय की केन्द्रीकृत पद्धति से सरलता से सुलभ, सस्ता, अनौपचारिक और अविलंब न्याय की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती। संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा यथा पुरःस्थापित अध्याय 14क से संकेत मिल सकता है। संविधान में अनुच्छेद 14क स्थापित करने का अन्तर्निहित उद्देश्य संसद् को विशेष प्रकारों के विवादों के लिए अधिकरण स्थापित करने हेतु विधि अधिनियमित करने के लिए सशक्त करना था। यह शक्ति न्याय प्रशासन के विकेन्द्रीकरण के स्पष्ट उद्देश्य को पूरा करने के लिए अर्जित की गई थी।

5. विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को एक कदम आगे बढ़ाने के लिए विधि आयोग ने, उच्च न्यायालय की सलाहकारी अधिकारिता को हटाते हुए, राष्ट्रीय कर न्यायालय को सिफारिश की। विधि आयोग की यह भी राय थी कि कुछ और विकेन्द्रीकरण से उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय पर न केवल दबाव कम होगा वरन उससे विशेषित प्रकृति के मामलों के निराकरण के लिए विशेषज्ञों को अधिकरणों के साथ सहयुक्त किया जा सकेगा। इस दृष्टिकोण के पीछे, दोहरा उद्देश्य न केवल विभिन्न अधिकरणों से कार्य के अत्यधिक अन्तर्वहन के कारण उच्च न्यायालयों पर उत्पन्न हुए बोझ को हल्का करना है वरन संविधान के अनुच्छेद 39क में अन्तर्निहित उद्देश्य, अर्थात् न्याय की सुलभता के मामले में समान अवसर प्रदान करना, भी प्राप्त करना है। ऐसा विशेषज्ञीयकरण शब्दाडंबरों तर्कों को निश्चित रूप से कम करेगा और मामलों और विवादों के अविलंब निपटारे में सहायक होगा जिसके परिणामस्वरूप मुकदमों के खर्च में कमी होगी। संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च परमाधिकार रिट जारी करने और अनुच्छेद 227 के अधीन सभी न्यायालयों और अधिकरणों पर सर्वव्यापी अधीक्षण प्रदत्त करते समय यह धारणा की गई थी कि उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश न केवल सिविल और दाण्डिक मामलों में कार्यवाही कर सकेगा वरन उन मामलों में, जिनके लिए ऐसा विशेषज्ञीय ज्ञान अपेक्षित है, जैसे कर निर्देशों, श्रम विवादों और शिक्षा विवादों में भी कार्यवाही कर सकेगा। जबकि यह हो सकता है कि उच्च न्यायालय का न्यायाधीश, समय के अनुक्रम में, सभी प्रकार के विशेषज्ञ विवादों में कार्यवाही करने की क्षमता का विकास कर ले, फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इस प्रक्रिया से, किसी न्यायाधीश को विशेषज्ञीय ज्ञान प्राप्त करने में लम्बा समय लगेगा। इसके अतिरिक्त, उच्च न्यायालयों की सभी खण्ड पीठों में न्यायाधीशों के क्रमावर्तन की पद्धति है। इस पृष्ठ भूमि में विशेषज्ञीयकरण संभव नहीं है। आवश्यक रूप से, उसी प्रकार के विवाद के संबंध में भी प्रत्येक बार खण्डपीठ में परिवर्तन होने पर बहस फिर से प्रारम्भ होती और प्रत्येक उपलब्ध पूर्वोदाहरण निरवधि प्रस्तुत किए जाएंगे।

6. पुराने समय में, बार का कोई सदस्य विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए कोई प्रयत्न किए बिना कोई भी मुकदमा ले सकता था। परन्तु जैसे-जैसे विधि जटिल होती गई और मुकदमा लड़ने की तकनीकें और अधिक व्यापक होती गई और न्यायधिक दृष्टिकोण और अधिक वैज्ञानिक होता गया और पूर्वोदाहरण बहुत अधिक संख्या में बढ़ते गए, विधि व्यवसाय के क्षेत्र में धीरे-धीरे विशेषता आने लगी। तथापि, बिना किसी अपवाद के यह धारणा की गई थी कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के लिए कोई विशेषज्ञता आवश्यक नहीं है। उच्च न्यायालय में नियुक्तियां दो सुविदित स्रोतों से होती है :—

(1) बार से न्यायालय में उत्थापन; और

(2) जिला न्यायाधीश को पदश्रेणी से प्रोन्नति।

जिला न्यायाधीश द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली अधिकारिता के स्वरूप के कारण, उसे सांविधानिक मामलों, कर संबंधी मामलों, श्रम मामलों और निगम संबंधी विधियों को अन्तर्वलित करने वाले विवादों के संबंध में कार्यवाही करने का बहुत कम अवसर मिलता है या कोई अवसर मिलता ही नहीं। यह हो सकता है कि समय के अनुक्रम में, वह इन सभी विधियों का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर ले किन्तु उनसे पूर्णतः विज्ञ होने में बहुत अधिक समय लगेगा। और इस निर्माणकाल में सभी प्रकार के तर्क उसके समक्ष प्रस्तुत किए जाएंगे, जिनके लिए विशेषज्ञ के समक्ष कोई स्थान नहीं होगा। इसी प्रकार बार के किसी सदस्य को जिसने एक शाखा में विशेषज्ञता प्राप्त की है, अन्य शाखाओं का ज्ञान प्राप्त करना होगा। अतएव, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि विशेषज्ञीयकरण बेहतर न्याय प्रशासन में सहायक होगा और उससे मामलों और विवादों के शीघ्र निपटारे के व्यापक सुधार में सहायता मिलेगी जिससे लंबित मामलों की संख्या में, जो आज के न्याय प्रशासन का दुखदायी पहलू है, कमी होगी।

7. अतः अगला प्रश्न यह कि हम विशेषज्ञीयकरण की व्यवस्था कैसे करें। विधि आयोग को अस्थाई उत्तर न्याय प्रशासन के विकेन्द्रीकरण में मिला। इस विचार से प्रभावित होकर, विधि आयोग ने, उच्च न्यायालय की अधिकारिता को समाप्त करते हुए, राष्ट्रीय कर न्यायालय स्थापित करने के संबंध में एक व्यापक रिपोर्ट प्रस्तुत की। इससे विकेन्द्रीकरण हो सकेगा और ऐसा मार्ग सुलभ होगा जिससे उच्च न्यायालयों को राहत मिल सके। इसी प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए, विधि आयोग ने उच्च न्यायालय की अधिकारिता समाप्त करने का प्रस्ताव करते हुए, आधारिक स्तर पर

1500 L & J/88—6

श्रम न्यायालयों/औद्योगिक अधिकरण और शीर्ष स्तर पर उच्चतम न्यायालय के बीच मध्य प्रक्रम पर श्रमिक न्याय-निर्णयन में राष्ट्रीय एकरूपता के लिए न्यायाधिकरण की व्यवस्था करने हेतु विचार-विमर्श के लिए 27 जनवरी, 1987 को एक कार्यपत्र और प्रश्नावली जारी की ।

8. इसके ठीक पूर्व के पैरा में जिस दृष्टिकोण की चर्चा की गई है वह संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा संविधान में भाग 14क के पुरःस्थापन से प्रकट होता है, जिसने समुचित विधान-मण्डल को उसमें वर्णित विभिन्न मामलों के संबंध में विवादों, शिकायतों या अपराधों का न्यायनिर्णयन या विचारण अधिकरणों द्वारा किए जाने का उपबंध करने के लिए समर्थ बनाया। विधेयक के साथ संलग्न उद्देश्यों और कारणों में यह कहा गया था कि "उच्च न्यायालयों में लंबित मामलों की अत्यधिक बढ़ती हुई संख्या को कम करने और सेवा संबंधी मामलों, राजस्व मामलों और विशेष महत्व के कुछ अन्य मामलों का, समाजार्थिक विकास और प्रगति के संदर्भ में, शीघ्र निपटारा सुनिश्चित करने के लिए यह समीचीन समझा जाता है कि ऐसे मामलों के विचारण के लिए प्रशासनिक और अन्य अधिकरणों की व्यवस्था, ऐसे मामलों के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन की उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता को बनाए रखते हुए, की जाए।" इसमें विशेष महत्व के मामलों के लिए, अखिल भारतीय अधिकारिता वाले अधिकरण स्थापित की जाने की परिकल्पना की गई है। विश्वविद्यालयों को अन्तर्वलित करने वाले विवाद विशेष महत्व के मामले समझे जाएंगे। इससे विशेषज्ञ उपचार, शीघ्र निपटारे, अखिल भारतीय दृष्टिकोण और न्यायिक प्रशासन के दोहरे उद्देश्यों की पूर्ति हो सकेगी ।

9. वर्तमान कार्यपत्र तदनुसार विवादों के उस नए वर्ग पर केन्द्रित है जिसके "संबंध में कार्यवाही करने के लिए विशेषित ज्ञान अपेक्षित है और जो पिछले दशक में उच्च न्यायालयों में प्रमुख रूप से आए हैं। एक ओर विश्वविद्यालय और दूसरी ओर विद्यार्थियों, या विश्वविद्यालयों और अध्ययन कर्मचारिवृन्द तथा अनुसचिवीय कर्मचारिवृन्द को अन्तर्वलित करने वाले अनेक विवाद उच्च न्यायालयों में आते हैं। लगभग उनसे सम्बद्ध वे विवाद हैं जिनमें महाविद्यालयों की संबद्धता विश्वविद्यालय की स्वायत्तता, विश्वविद्यालयों की वित्तीय स्वतंत्रता, कुलपतियों की नियुक्ति और इसी प्रकार के विवादों के मामलों में विश्वविद्यालय और सरकार अन्तर्वलित होती है। इस संबंध में उत्पन्न होने वाले विवादों की उत्पत्ति अभी हाल में ही हुई है। किन्तु जैसे-जैसे साल बीतते जाते हैं, उनमें वृद्धि होती जाती है ।

10. उच्च शिक्षा के लिए पिपासा प्रतिवर्ष द्रुत गति से बढ़ती जा रही है। जैसे-जैसे तकनीकी शिक्षा संस्थाओं, जैसे इंजीनियरिंग, चिकित्सा, कृषि आदि में स्थानों की मांग बढ़ती जा रही है, विवादों का क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है। स्थिति तब विषम हो जाती है जब सरकार भारत के संविधान के अनुच्छेद 14(4) के अधीन अपनी बाध्यता के निर्वहन में नागरिकों के सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कुछ संख्या में स्थानों का आरक्षण करती है। अनुच्छेद 15 (4) में निम्नानुसार उपबंध हैं :—

> "15.(4) इस अनुच्छेद की या अनुच्छेद 29 के खण्ड (2) की कोई बात राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई विशेष उपबंध करने से निवारित नहीं करेगी।"[1]

सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के हिन्दी वर्गों के सदस्यों या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों को आगे बढ़ने और जीवन की मुख्य धारा से मिलने का अवसर प्रदान करने की दृष्टि से सरकार तकनीकी शिक्षा और उच्च शिक्षा की संस्थाओं में कुछ प्रतिशत स्थान ऐसे वर्गों के सदस्यों के लिए आरक्षित करती है। उन स्थानों में, जो योग्यता के आधार पर प्रवेश के लिए उपलब्ध रहते हैं, उस सीमा तक कमी हो जाती है। प्रतिस्पर्धा बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त, ऐसी संस्थाओं में स्थानों की संख्या में उस सापेक्षता में वृद्धि नहीं हुई है जितनी कि उनकी मांग है। इन सब कारणों से ऐसी संस्थाओं में प्रवेश पाने के लिए बहुत अधिक कशमकश होती है। यह कशमकश बहुधा टकराव या न्यायलयीन मामलों में परिणत हो जाती है। व्यावहारिक रूप से, पिछले दस वर्षों से अधिक समय से चिकित्सा महाविद्यालयों और इंजीनियरिंग महाविद्यालयों में प्रवेश के मामले उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय में आ रहे हैं। स्पष्टतः न्यायालय इन विवादों में अवलंब और अत्यावश्यकता की भावना से कार्यवाही करने के लिए भली-भांति सज्जित नहीं हैं। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के विनिश्चयों के संक्षिप्त साल से ऊपर कही गई बात सिद्ध हो जाती है ।

11. उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के अनेक ऐसे विनिश्चय है जो वृत्तिक संस्थाओं, विशेषतः इंजीनियरिंग और चिकित्सा संकायों में, प्रवेश के प्रश्न से संबंधित हैं। सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों के सदस्यों और अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों के

[1] संविधान (पहला संशोधन) अधिनियम, 1951 की धारा 2 द्वारा जोड़ा गया ।

लिए आरक्षण नीति के संबंध में भी विनिश्चय हैं। इस कार्यकाल में इन सभी विनिश्चयों पर चर्चा करना प्रस्तावित नहीं है। विधि आयोग के इस अस्थाई दृष्टिकोण पर प्रकाश डालने के लिए केवल कुछ विनिश्चयों का उल्लेख किया जाएगा कि विश्वविद्यालय प्रशासन, विश्वविद्यालय पाठ्यक्रमों में प्रवेश, विश्वविद्यालय के शिक्षकों के विरुद्ध अनुशासिक कार्यवाहियां अन्तर्वलित करने वाले विवादों पर, कारखाने को मिति से छोटे-छोटे झगड़ों के समान प्रभावी रूप से कार्यवाही नहीं की जा सकती। ऐसे विवादों में विनिश्चय विकासशील देश में शिक्षा की भूमिका, निर्माणकाल में अनुशासन, भावी नेतृत्व और मूल्यों के अधिष्ठापन के व्यापक परिप्रेक्ष्य से अनुप्रमाणित होना चाहिए । यदि उनके संबंध में भिन्न प्रकार से कार्यवाही की जाती है तो उससे विश्वविद्यालय प्रशासन में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी ।

12. प्रारम्भ करते हुए, एक ऐसे मामले का उल्लेख ज्ञानवर्धक होगा। उत्तर प्रदेश राज्य के राज्य चिकित्सा महाविद्यालयों में प्राचार्यों के दो रिक्त पद थे। चूंकि दोनों पद राज्य लोक सेवा आयोग के कार्यक्षेत्र में थे, आयोग ने पात्र अभ्यर्थियों से आवेदन आमंत्रित करते हुए इन पदों को विज्ञापित किया। पात्रता का मानदण्ड विज्ञापन में ही दर्शित किया गया। पूर्वोक्त दो पदों के लिए आयोग ने दो व्यक्तियों का चयन किया। इस चयन को कुछ प्रतिस्पर्धियों द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ यह संकथन करते हुए चुनौती दी गई कि चयनित व्यक्ति पात्रता मानदण्ड की पूर्ति नहीं करते थे क्योंकि उनके पास अपेक्षित अध्यापन अनुभव नहीं था जो न्यूनतम अर्हताओं में से एक था। इन मामले में उच्च न्यायालय को एकल खण्डपीठ के समक्ष बहस की गई, जिसने इस संकथन का समर्थन किया और विद्वान न्यायाधीश का मत खण्डपीठ के समक्ष अपील में पुष्ट किया गया। दूसरे शब्दों में, उच्च न्यायालय के तीन न्यायाधीश इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि चयनित व्यक्तियों के पास अपेक्षित अध्याय अर्हता नहीं थी। उच्चतम न्यायालय के समक्ष दो अपीलें की गई। उच्च न्यायालय के इन दो विनिश्चयों को उलटते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि "जब आयोग द्वारा चयन विशेषज्ञीय क्षेत्र में तकनीकी अनुभव और उच्च शैक्षणिक अर्हताएं रखने वाले विशेषज्ञों की सहायता और सलाह से किया जाता है, तो तकनीकी विषयों में अध्यापन/अनुसंधान की खोजबीन करते हैं, तब न्यायालय को विशेषज्ञों द्वारा व्यक्त की गई राय में हस्तक्षेप करने में अनिच्छुक होना चाहिए जब तक कि उनके विरुद्ध दुर्भावना के अभिकथन में किए गए हों। न्यायालयों के लिए सामान्यतया यह बुद्धिमत्तापूर्ण और सुरक्षित होगा कि वे शैक्षिक विषयों पर विनिश्चय विशेषज्ञों पर छोड़ दें जो उन समस्याओं से, जिनका उन्हें सामना करना पड़ता है, न्यायालयों की अपेक्षा अधिक निकट से परिचित होते हैं निस्संदेह, यदि ऐसा निकाय भी चयन करने और चयनित व्यक्तियों के नामों की सिफारिश करने में उन नियमों और विनियमों का, जो उन पर बन्धनकारी हैं, उल्लंघन करता है, तो न्यायालय विधि के नियम को प्रवृत्त कराने के लिए अपनी असाधारण अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट याचिका में हस्तक्षेप कर सकता है। फिर भी विधि के नियम को प्रवृत्त कराने में न्यायालय को विशेषज्ञों द्वारा अभिव्यक्त राय को सम्यक् महत्व देना चाहिए और उनकी उन सिफारिशों का, जिन पर राज्य सरकार ने कार्रवाई की है, सम्यक् ध्यान रखना चाहिए। यदि विशेषज्ञों के निकाय द्वारा की गई सिफारिशों से, सुसंगत नियमों और विनियमों को दृष्टिगत रखते हुए, यह स्पष्ट होता है कि सभी सुसंगत तत्वों पर सम्यक् विचार किया गया था तो न्यायालय को ऐसी सिफारिशों में हस्तक्षेप करने में अत्यन्त अनिच्छुक रहना चाहिए।" तथापि, न्यायालयों में, विशेषतः उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालयों में, तकनीकी विचारों को अन्तर्वलित करने वाले मामलों की भरमार है और न्यायालय मामलों को ग्रहण करते हैं और कभी-कभी उनमें हस्तक्षेप करते हैं जिससे विश्वविद्यालय प्रशासन में बाधा उत्पन्न होती है। यहां यह बताया जा सकता है कि विश्वविद्यालय के बारे में यह समझा जाना चाहिए कि वे राज्य के कानूनों के अधीन स्थापित स्वशासी निकाय हैं और उनसे शिक्षा की योजना, आयोजना, निकायों के संगठन, कर्मचारिवृन्द की आवश्यकताओं, शिक्षा के निदेशन और विकास में, उन कार्यक्षेत्रों से, जो अभी तक अछूते हैं, सम्पर्क बनाए रखते हुए, सजगता और अन्य विश्वविद्यालयों के साथ समन्वय की बनाए रखने की अपेक्षा की जाती है। उसकी अपनी प्रबन्ध संरचना और प्राईवेट तौर पर प्रबंधित महाविद्यालयों की संबद्धता, विश्वविद्यालयों के विभागों के प्रबंध, विद्यार्थियों से उसके सम्बन्ध और राज्य सरकार से, विशेषतः वित्तीय स्वायत्तता के विषय में, उसके संबंध को लेकर जो विवाद उत्पन्न होते हैं उनके निराकरण के लिए उसका अपना न्यायाधिकरण होना चाहिए। इस दृष्टि से कि विश्वविद्यालय अपने आन्तरिक प्रबंध के तथा ज्ञान के विस्तारी आयामों की पूर्ति कर सके, उन्हें लाभोन्मुख सामूहिक दृष्टिकोण के आधार पर प्रतिरूपित नहीं किया जा सकता। अन्य देशों में द्रुतगति से विकसित होने वाली राजनैतिक और आर्थिक स्थिति और प्रवृत्तियां यह दर्शित करती है कि युवाओं के शिक्षण और अनुसंधानों का संचालन करने के अपने कृत्यों के अतिरिक्त विश्वविद्यालय का विशाल समुदाय के प्रति भी दायित्व है।[2] यदि विश्वविद्यालयों की ऐसी भूमिका है तो विश्वविद्यालय के क्रियाकलापों के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले विवादों के संबंध में केवल विधिपरायण दृष्टिकोण से, जो साधारणतः न्यायालय कक्षों में परिलक्षित होता है, कार्यवाही नहीं की जा सकती ।

1. डा० एस० सी० गुप्ता वि० डा० अरूण कुमार गुप्ता (1969) 2 एस० सी० सी० 339।
2. डा० ए० एच० होम्मादी, यूनिवर्सिटी एंडमिनिस्ट्रेशन इन डेवलपिंग कन्ट्रीज ।

13. जैसाकि इसमें इसके पूर्व बताया गया है, चूंकि वृत्तिक महाविद्यालयों, विशेषतः इंजिनियरिंग और चिकित्सा महाविद्यालयों, में प्रवेश के लिए मांग बहुत अधिक है, विश्वविद्यालय, कुनबापरस्ती या व्यक्तिपरक अधिमानों के आरोपों को पहले से रोकने की दृष्टि से लिखित प्रवेश परीक्षा आयोजित करते हैं और परीक्षा से प्रकट होने वाली योग्यता के आधार पर प्रवेशों का विनियमन करते हैं। लिखित प्रवेश परीक्षा, परीक्षा में बठने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता सिद्ध करने का समान अवसर प्रदान करती है। इस परीक्षा को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि तकनीकी विषयों में प्रवीणता विहित करने वाली परीक्षा सरकार द्वारा आदेशित नहीं की जा सकती। अधिक से अधिक ऐसा विश्वविद्यालय की विद्या परिषद द्वारा ही किया जा सकता है। न्यायालय ने यह ठहराया कि सरकार को, जो महाविद्यालयों को चलाती है, अभ्यर्थियों की एक बडी संख्या में से चयन करने का अधिकार है और इस प्रयोजन के लिए सरकार स्वयं परीक्षा विहित कर सकती है जो विधि विरुद्ध नहीं है।[1] कुछ विश्वविद्यालय लिखित परीक्षा और मौखिक परीक्षा विहित करते हैं। मौखिक परीक्षा को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि प्रश्नोत्तर मौखिक होने के कारण और व्यक्तित्व के बारे में राय अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण उसे मनमाना और असमर्थनीय होने के रूप में अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए। निःसदेह न्यायालय ने इस तर्क को नकार दिया।[2] तथापि, उसी मामले में, न्यायालय ने यह विचार व्यक्त किया कि प्रवेश के लिए मानदण्ड विहित करने वाले आदेश द्वारा एक बार वस्तुनिष्ठ मानदण्ड अधिकथित कर दिए जाने और चयन का मामला अर्हित व्यक्तियों को सौंप दिया जाने पर, मामले में कुछ करने का न्यायालय को स्पष्टतः कोई अधिकार नहीं हो सकता।[3] तथापि, बाद के प्रक्रम पर, मौखिक परीक्षा के लिए, लिखित परीक्षा की साक्षेपता में नियत किए गए कुल अंकों के बारे में मतभेद पैदा हुआ। कुछ मामलों में यह पाया गया कि जिनका सम्पादन लिखित परीक्षा में अच्छा था, वे मौखिक परीक्षा में उनके अनुकूल सम्पादन के कारण योग्यता सूची में नीचे चले गए। एक बार यह शोचनीय स्थिति पैदा हो जाने पर न्यायालय ने, पुनः यह विचार व्यक्त करते हुए मध्यस्था की :—

> जब नतिक मूल्यो में गिरावट आती है और भ्रष्टाचार और कुनबापरस्ती बहुत अधिक बढ़ जाती है, लिखित परीक्षा के लिए आबंटित अंकों को तुलना में मौखिक परीक्षा के लिए उच्च प्रतिशत में अंकों का आबंटन न्यायालय द्वारा स्वैच्छिकता से मुक्त नहीं माना जा सकता।"[4]

1961 से लेकर आज तक वर्षानुवर्ष जो असंख्य मामले न्यायालय में लाए गए वे सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के वर्गों और अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के लिए स्थानों के आरक्षण पर केन्द्रित थे। पुनः, कुछ के सिवाय ऐसे सभी मामलों का उल्लेख करना उपयुक्त नहीं है। नीति विषय का विनिश्चय पर कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच मतान्तर को स्पष्ट करने की दृष्टि से, पूर्वतन विनिश्चय का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें उच्चतम न्यायालय ने मद्रास के साम्प्रदायिक समूह में वर्गीकरण के आदेश को, जो धर्म और जाति पर आधारित था, इस आधार पर विखण्डित कर दिया कि वह संविधान के विरुद्ध था और उससे नागरिकों को प्रत्याभूत मूल अधिकारों का अतिक्रमण होता था। न्यायालय ने राज्य की ओर से किए गए इस निवेदन को नामंजूर करते हुए कि आरक्षण संविधान के भाग 4 में परिकल्पित नीति निर्देशक तत्वों को प्रभावशील करने के लिए विहित किया गया था, यह व्यवस्था दी कि राज्य के नीति निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों के अध्याय के अनुरूप और उसके समनुषंगी होना चाहिए।[5] जैसे-जैसे राज्य ने अपनी सांविधानिक बाध्यताओं के निर्वहन में आरक्षण का प्रतिशत बढ़ाया, न्यायालय को इन नीति विषयक निर्णयों के गहरे दल-दल में जाना पड़ा। यद्यपि अनुच्छेद 15(4) में पद "सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के वर्गों का प्रयोग किया गया है, जाति को ऐसे पिछड़े पन को निर्देशक नाम पट्टिका माना गया। न्यायालयों ने यह कहते हुए मध्यस्थता की कि जाति को नागरिकों के समूहों या वर्गों के पिछड़ेपन का अवधारण करने के लिए एकमात्र प्रमुख नहीं माना जा सकता, जबकि उसने यह भी स्वीकार किया कि नागरिकों के वे वर्ग जो शोचनीय रूप से गरीब हैं स्वमेव सामाजिक दृष्टि से पिछड़ जाते हैं। सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ेपन का

1. आन्ध्रप्रदेश राज्य वि० नरेन्द्रनाथ, ए० आई० आर० 1971 एस सी 2560 और उसमें अभिव्यक्त मत को पुनः पुष्टि अजय हासिया वि० खालिद मुजीब ए० आई० आर० 1981 एस सी 487 में की गई थी।
2. आर० चित्रलेखा वि० मैसूर राज्य, ए० आई० आर० 1964 एस सी 1823।
3. तदेव पृष्ठ 1831।
4. अजय हासिया वि० खालिद मुजीब, ए० आई आर० 1981 एस सी 487।
5. मद्रास राज्य वि० चम्पाकम दोराईराजन।

अवधारण करने का मानदण्ड जाति पट्टिका तक सीमित रखा गया। तत्पश्चात् न्यायालय यह विनिश्चित करने के लिए अग्रसर हुआ कि आरक्षण का उचित प्रतिशत क्या होना चाहिए[1] और उसने यह विचार व्यक्त किया कि 50 प्रतिशत से ऊपर कोई भी आरक्षण उचित या संवैधानिक रूप से मान्य नहीं होगा। चूंकि यह विवाद न्यायालयों में बार-बार सिर उठाता रहा, जाति और वर्ग के बीच अन्तर करना और सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन के अभिनिश्चयन के लिए वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त स्थापित करना आवश्यक हो गया। न्यायालय का यह दृष्टिकोण पश्चात्वर्ती एक मामले में प्रतिबिम्बित हुआ, जिसमें बहुमत से दिए गए निर्णय द्वारा मैसूर सरकार के उन आदेशों को विधिमान्य ठहराया गया जो इंजीनियरिंग और चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के संबंध में किए गए थे। और यह विचार व्यक्त किया गया कि आर्थिक दशाओं और आजिविका पर आधारित पिछड़े वर्गों का वर्गीकरण दोषपूर्ण नहीं है और उससे संविधान के अनुच्छेद 15(4) का अतिक्रमण नहीं होता। जाति को सुसंगत आधार माना गया किन्तु यह एक मात्र अवधारक घटक नहीं हो सकता।[2] पेन्डुलम दूसरी ओर घूम गया जब न्यायालय ने पीछे मुड़ कर सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन के अवधारण के लिए जाति की पट्टी को आधार माना। उसने कहा कि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस देश में अनेक जातियां हैं जो सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं। उनके अस्तित्व की उपेक्षा करना - जीवन की वास्तविकताओं की उपेक्षा करना है।[3] यदि सामाजिक और शैक्षिक पिछड़ेपन का अवधारण किसी जाति की सदस्यता के अनुसार किया जाता है तो स्पष्टतः यह उपधारणा करनी होगी कि उस जाति का प्रत्येक सदस्य सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। यह धारणा सुआधारित नहीं है।[4] जाति मानदण्ड और साधन मानदण्ड दोनों के संबंध में न्यायालयों की सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए, एक राज्य ने यह आदेश दिया कि जिन खेतिहरों का खाता विहित न्यूनतम सीमा से कम होगा उन्हें सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ और आरक्षित स्थान के लिए पात्र माना जाना चाहिए। न्यायालय ने उसे विखण्डित कर दिया।[5] इसी प्रकार, ग्रामीण क्षेत्रों के पक्ष में आरक्षण को इस आधार पर अननुज्ञेय ठहराया गया कि ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी ग्रामीण क्षेत्रों के लिए आरक्षण के समर्थन का आधार नहीं हो सकता।[6] अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के पक्ष में आरक्षण को न्यूनाधिक रूप से इस आधार पर उचित ठहराया गया कि राजनैतिक प्रजातंत्र मात्र सामाजिक प्रजातंत्र स्थापित करने के उद्देश्य पूर्ति का साधन है जिसका तात्पर्य है एक व्यक्ति, एक मूल्य के सिद्धान्त पर आधित सामाजिक ढांचा जो सामाजिक और आर्थिक असमानता को पूरी तरह समाप्त किए जाने की अपेक्षा करेगा।[7] इस बिन्दु का उपसंहार करते हुए, बहुत पहले 1985 में, उच्चतम न्यायालय की संविधान पीठ ने पांच विभिन्न मत व्यक्त किए जिनसे स्थिति को सुधारने में कोई मदद नहीं मिली है।[8]

प्रत्येक राज्य की अपनी स्थानीय समस्याएं हैं और उसे उनके समाधानप्रद हल के लिए व्यवस्था करनी होती है। प्रत्येक राज्य नीति विषय विनिश्चय करता है और अन्ततः नीति विषयक विनिश्चय में न्यायालयों द्वारा हस्तक्षेप किया जाता है। जम्मू और कश्मीर राज्य ने चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश के लिए स्थानों के आबंटन में प्रादेशिक असंतुलन को ठीक करने के लिए असन्तुलन से ग्रस्त क्षेत्रों को पहचान किए बिना, 80 प्रतिशत स्थानों का आरक्षण किया। न्यायालय ने आरक्षण को अनुच्छेद 14 के अधीन असंवैधानिक घोषित कर दिया।[9] इसी प्रकार तामिलनाडु राज्य ने, राज्य में निवास के आधार को अधिमानता देने में असफल रहने पर, राज्य में चिकित्सा महाविद्यालयों में प्रवेश के लिए इकाईयां बनाने की नवीन पद्धति अपनाई। इकाईयों में विभिन्न पूर्व-स्नातक महाविद्यालय समाविष्ट थे। इच्छुक अभ्यर्थियों से यह कहा गया कि वे किसी भी इकाई के लिए आवेदन न करें किन्तु उन्हें यह सलाह दी गई कि वे यथा सम्भव उस इकाई को आवेदन करें जो उनके निवास स्थान के निकटतम हो। इकाई वार अधिमानता को अनुच्छेद 14 और 15 के अतिक्रामक होने से इस आधार पर चुनौती दी गई कि राज्य का कार्य विभेदकारी स्वरूप का था। न्यायालय द्वारा चुनौती का अनुमोदन किया गया और वह आदेश विखण्डित कर दिया गया।[10] यदाकदा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों का

1. एम० आर० बाला जी लि० मैसूर राज्य (1963) सप्लीमेंट एस० सी० आर० 439।
2. आर० चित्रलेखा वि० मैसूर राज्य एस० आई० आर० 1964 एस० सी० 1803
3. ए० पेरियाकरुप्प वि० तामिलनाडु राज्य, ए० आई० आर 1971 एस सी 2309।
4. आन्ध्रप्रदेश राज्य वि० यू० एस० वी० बलराम, ए० आई० आर० एस सी 1375।
5. जानकी प्रसाद परीमू वि० जम्मू और कश्मीर राज्य, ए० आई० आर० 1973 एस सी 930।
6. उत्तरप्रदेश राज्य वि० प्रदीप टण्डन, ए० आई० आर 1975, एससी 563।
7. अखिल भारतीय शोषित कर्मचारी संघ वि० भारत संघ, ए० आई० आर० 1981 एससी 298।
8. के० सी० वसन्तकुमार वि० कर्नाटक राज्य, ए आई आर 1985 एससी 1495।
9. निशी मधू वि० जम्मू और कश्मीर राज्य, ए० आई० आर० 1980 ई एससी पृ० 1975।
10. ए० पेरियाकरुप्पन वि० तामिलनाडु राज्य, ए० आई० आर० 1971 एससी 2303।

दावा हिन्दु धर्म में सम्परिवर्तित व्यक्तियों द्वारा किया गया जिसे न्यायालय ने इस आधार पर नामंजूर कर दिया कि धर्मान्तरित व्यक्ति को उक्त जाति के अन्य सदस्यों द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए और उसे उनके ट्रस्ट में सम्मिलित किया जाना चाहिए। ऐसे सभी मामलों का उल्लेख करना आशयित नहीं है किन्तु इसमें निर्दिष्ट निर्देशात्मक मामलों से कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच नीति विषयक मामलों में भी मतभिन्नता दर्शित होगी और यह कुख्याति है कि न्यायालिका अपने विनिश्चय देने में समय लगाती है और वर्षों उपरांत सम्पूर्ण नीति निष्फल हो जाती है जिससे अनेक व्यक्ति शिकार बन जाते हैं जिन्हें इस समानीकृत न्यायिक हस्तक्षेप के कारण नुकसान उठाना पड़ता है।

14. न्यायिक हस्तक्षेप के सभी मामलों में, यह धारित करते हुए कि वह सही और न्यायोचित है, उन लोगों को कभी भी अनुतोष नहीं दिया जा सका जो अनुतोष की तलाश में न्यायालय में आए और जिनके लिए न्यायालय ने सहायता का हाथ बढ़ाया। कुछ वर्ष पूर्व, केरल में, चिकित्सा महाविद्यालय में प्रवेश के लिए सामान्य प्रवेश परीक्षा आयोजित की गई और परिणाम घोषित किए जाने पर, अनेक रिट याचिकाएं भाई भतीजावाद और व्यापक कदाचार अभिकथित करते हुए केरल उच्च न्यायालय में प्रस्तुत की गई। केरल उच्च न्यायालय आश्वस्त था किन्तु यह कहने के सिवाय कि वह भविष्य में ऐसे कदाचरणों का परिहार किए जाने के लिए कुछ निदेश देगा, याचिकाकर्ताओं को कोई अनुतोष नहीं दे सका। यह मामला उच्चतम न्यायालय के समक्ष आया और सम्पूर्ण परीक्षा, उसके परिणाम और उस पर आधारित प्रवेश अभास्त कर दिए गए। ऐसी परिस्थिति में, उन अभ्यर्थियों का जिन्हें प्रवेश दिया गया था और जिनके प्रवेश अविधिमान्य पाए गए थे, वह वर्ष बर्बाद हो गया और उन अभ्यर्थियों को, जो प्रवेश के हकदार हुए होते और जिन्हें प्रवेश नहीं मिला, एक वर्ष का लाभ नहीं दिया जा सका। यह राष्ट्रीय हानि है जिसका कोई तत्स्थानी राष्ट्रीय लाभ नहीं है।

15. यहां तक कि अनुशासनिक उपायों के मामले में भी स्थिति संतोषजनक नहीं है। विश्वविद्यालय प्राधिकरणों के खण्ड अधिरोपित करने वाले विनिश्चय को प्रश्नगत करने वाले असंख्य मामले न्यायालय में आए हैं। उनमें से दो का उल्लेख किया जा सकता है। गुजरात में विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त किए गए एक परीक्षक ने अभिकथित रूप से अंकों में इस प्रकार हेराफेरी की कि स्वर्ण पदक प्रदान किया जा सके और यह वस्तुतः उसके स्वयं के विद्यार्थी को प्रदान किया गया। जांच से कदाचार का पता लगा और संबंधित आचार्य को अपना आचरण स्पष्ट करने का अवसर देने के पश्चात् विश्वविद्यालय ने कुछ वर्ष की कालावधि के लिए विश्वविद्यालय के शिक्षक के रूप में उसकी मान्यता के प्रत्याहरण का दण्ड अधिरोपित किया। यह विनिश्चय आचार्य द्वारा उच्च न्यायालय में प्रश्नगत किया गया। उच्च न्यायालय ने विश्वविद्यालय से यह वांछा की कि वह दण्ड के परिमाण पर पुनर्विचार करे विश्वविद्यालय को कार्य परिषद् ने उच्च न्यायालय के महत्वपूर्ण विचारों पर विचार करने के पश्चात्, अपने पूर्व के निष्कर्ष की पुनरावृत्ति की। उच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 226 के अधीन अपनी असाधारण अधिकारिता का प्रयोग करते हुए, दण्ड में हस्तक्षेप किया और यह प्रश्न अनुत्तरित छोड़ दिया कि क्या उच्च न्यायालय अपनी असाधारण शक्ति का प्रयोग करते हुए, विश्वविद्यालय जैसे निकाय द्वारा अधिरोपित दण्ड में हस्तक्षेप कर सकता है:

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय ने विस्तृत जांच करने और सूचना देने के पश्चात्, करीब तेरह विद्यार्थियों को पांच वर्ष से लेकर शिक्षा सत्र तक की विभिन्न कालावधियों के लिए निष्कासित कर दिया। आरोप यह था कि उन विद्यार्थियों ने, जिन पर दण्ड अधिरोपित किया गया था, और कई अन्य विद्यार्थियों ने, कुलपति के आवास पर भीड़ जमा की, उनसे झूमाझटकी की और उन्हें जान से मारने की धमकी दी। निष्कासित विद्यार्थियों में से कुछ विद्यार्थियों ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की, जिसकी खण्डपीठ ने याचिका में उठाए गए हिन्दुओं के विस्तृत विश्लेषण और परीक्षण के पश्चात्, उसे खारिज कर दिया। उच्च न्यायालय के समक्ष याचिकाकर्ताओं ने इसके पश्चात् अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय में अपील प्रस्तुत की। उच्चतम न्यायालय ने गुणावगुण के आधार पर अपील विनिश्चित नहीं की किन्तु कार्यकारी हल अधिरोपित किया जिससे दोनों ही पक्षकार अंशतः असन्तुष्ट रहे।[2]

16. यदाकदा, स्नातकोत्तर चिकित्सा महाविद्यालयों से विशेषज्ञीय शाखा में स्नातकोत्तर उपाधि परीक्षा के लिए रजिस्ट्रीकरण का दावा करने का अधिकार न्यायालय में लाया जाता है। अनुभव से यह ज्ञात होता है कि न्यायालय मामले ग्रहण कर लेता है और अन्तरिम अनुतोष प्रदान करता है। अन्तरिम अनुतोष का अनुदान न्यूनाधिक रूप से याचिकाकर्ता को कक्षाओं में उपस्थित होने की अनुज्ञा देने वाले स्वरूप का होता है। अब यह सुविदित है कि विशेषज्ञीय शाखा में स्नातकोत्तर उपाधि के लिए बहुत सीमित स्थान

1 सर्वेश नारायणमिश्रा वि. कुलपति, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, ए० आई० आर० 1982 एस सी 843 ।

2 प्रिन्सिपल, गुन्टूर मेडिकल कालेज वि० मोहनराव, ए० आई० आर० एस सी 19041 ।

होते हैं और उनका सीधा संबंध उपलब्ध सुविधाओं से होता है। पाठ्यक्रम में एक ओर विद्यार्थी के भाग लेने से सीमित साधनों पर अतिरिक्त भार पड़ता है। इस तरीके से, ऐसा बाहरी विद्यार्थी जो न्यायालय के आदेशों के अधीन कक्षाओं में उपस्थित होता है, सभी सेमिस्टर पूरे कर लेता है। उसे न्यायालय के आदेश के अधीन परीक्षा में बैठने की अनुज्ञा दी जाती है। धारण यह है कि वे, जो न्यायालय में मुकदमे लड़ने की स्थिति में होते हैं, स्थान धारण करने का अनुचित लाभ उठा सकते हैं जिसके लिए वे हकदार नहीं ह।

17. ऐसे अनेक शीर्ष हैं जिनके अधीन, विश्वविद्यालयों को अन्तर्वलित करने वाले विवाद न्यायालय में लाए जाते हैं वे वर्षो तक तक चलते रहते हैं एक कुलपति ने एक रोचक किस्सा सुनाया। उन्होंने कहा कि उनने एक आचार्य के विरुद्ध अनुशासनिक कार्यवाही की और वह मामला न्यायालय में रोक आदेश के साथ लंबित है और उसको कुलपति की पदावधि के समाप्त होने तक चलते रहना संभाव्य है। इसके पश्चात्, कोई न्याय विरुद्ध समझौता हो सकता है। क्या यह स्थिति संतोषजनक है।

18. विश्वविद्यालय प्रशासन उसकी दार्शनिक और पद्धतिगत विवक्षाओं के कारण एक गतिशील विषय है। वह दार्शनिक है क्योंकि वह अत्यन्त जटिल प्रणालियों जैसे प्रबंध विज्ञान और शिक्षा, के बारे में सोचने का ढंग है।[1] सुव्यवस्थित, दक्ष, और सुनियोजित विश्वविद्यालय प्रशासन कार्यक्रम विकासशील देशों में स्थायी और सार्थक उच्च शिक्षा के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, व्यवस्थित विश्वविद्यालय प्रशासन कार्यक्रम ने केवल उच्च शिक्षा प्रणाली के सर्वोत्तम विकास में योगदायी होगा वरन् उससे उच्च शिक्षा और साधारण शिक्षा के बीच दृढ़ सामान्य संबंध स्थापित करते हुए समग्र शिक्षा के विकास में मदद मिलेगी। विश्वविद्यालय प्रशासन को आचार्यों के कार्य निष्पादन के पर्यवेक्षण, विद्यार्थियों के संकायों के विकास, विहित प्रवेश मानदण्डों, पाठ्यचर्या के सतत सुधार की आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिए ताकि उसे अद्यतन बनाए रखा जा सके। पुस्तकालय का आधुनिकीकरण किया जा सके और कार्यशालाएं से मीनार आयोजित किए जा सकें। इसके लिए विशेषज्ञीय ज्ञान की आवश्यकता है। अतः विश्वविद्यालयों को अन्तर्वलित करने वाले विवादों का विचारण केवल शुद्ध-विधिपरायणता से नहीं वरन विश्वविद्यालयों की समाज और राष्ट्र के प्रति वाध्ताओं को दृष्टिगत रखते हुए किया जाना चाहिए

1 ए, च, ोम्मदी, यूनिवर्सिटी एडमिनिस्ट्रेशन इन डेवलपिंग कन्ट्रीज, पृ० 25

अतः विश्वविद्यालयों को अन्तर्वलित करने वाले विवाद के निराकरण के विषय में विशेषज्ञीय उपगम और उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय का भार कम करने की दृष्टि से न्याय प्रशासन का विकेन्द्रीकरण दोनों ही दृष्टकोणों से, आज की आवश्यकता यह है कि अखिल भारतीय अधिकारिता वाले न्यायाधिकरण की व्यवस्था की जाए जिसमें विश्वविद्यालयों और उनसे संबद्ध महाविद्यालयों को अन्तर्वलित करने वाले विवाद निराकरण के लिए लाए जा सकें।

19. ऐसे केन्द्रिकृत अधिकरण की अधिकारिता सर्वव्यापी होनी चाहिए। विश्वविद्यालयों, उनको वित्तीय स्वायत्तता, कुलपतियों की नियुक्तियों, उनके प्रशासनिक कृत्य, राज्य सरकारों से उनके आन्तरिक संबंध, महाविद्यालयों से उनके आन्तरिक संबंध, प्रदेशों और अनुशासनिक कार्यवाहियों को अन्तर्वलित करने वाले विवाद उसके अन्तर्गत होने चाहिए।

20. ऐसे अधिकरण के गठन पर अनंतिम रूप से विचार किया जा सकता है। एक तिहाई सदस्य कुलपतियों और भूतपूर्व कुलपतियों के संवर्ग से आ सकते हैं और शेष सदस्यों में कुछ विधिशास्त्रवेता, वे न्यायाधीश, जिन्होंने उच्च न्यायालयों में कार्य किया है, कुछ आचार्य और वे सेवानिवृत्त अधिकारी, जिन्होंने शिक्षा मंत्रालय में कार्य किया है, हो सकते हैं वह विभिन्न स्थानों में न्यायपीठों में बैठकें कर सकता है। अनन्यतः ऐसे अधिकरण की अधिकारिता में आने वाले विवादों का विचारण करने की सभी न्यायालयों को उच्च न्यायालय को, सम्मिलित करते हुए, अधिकारिता अपवर्जित कर दी जानी चाहिए। अधिकरण के किसी विनिश्चय के विरुद्ध केवल अनुच्छेद 136 के अधीन भारत के उच्चतम न्यायालय को अपील की जा सकती है:

21. इस संबंध में विचारणार्थ जो बिन्दु उदभूत होंगे उसका संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है:—

(क) क्या संबद्ध सरकार, विश्वविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और संबद्ध महाविद्यालयों के प्राचार्यों और विद्यार्थियों को अन्तर्वलित करने वाले मामलों, विवादों और मतभेदों के संबंध में कार्यवाही करने के लिए पूर्वोक्त पक्षकारों को अन्तर्वलित करने वाले विवादों का विचारण करने की व्यापक अधिकारिता से युक्त केन्द्रीय शिक्षा अधिकरण होना चाहिए।

(ख) क्या ऐसा अधिकरण शैक्षिक समस्याओं का अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य प्रदान करेगा, जिसका दुर्भाग्य से इस कारण अभाव है कि शिक्षा समवर्ती सूची की प्रविष्टि 25 के संशोधन के पश्चात् भी प्रायः राज्य विषय रही है ?

(ग) ऐसे अधिकरण का गठन क्या होना चाहिए ? क्या उसमें शिक्षाविद, वर्तमान और भूतपूर्व कुलपति, ऐसे सरकारी सेवक, जिन्होंने शिक्षा संबंधी समस्याओं के संबंध में कार्यवाही की है, वकील और वे न्यायाधीश, जिन्होंने उच्च न्यायालय स्तर पर कार्य किया है और सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता भी होने चाहिए।

(घ) यदि ऐसे विवादों के संबंध में कार्यवाही करने की उच्च न्यायालयों की अधिकारिता समाप्त कर दी जाती है तो क्या वह विश्वविद्यालयों का प्रशासन सुधारने में सहायक होगी ?

(ङ) क्या ऐसे अधिकरण की स्थापना करके प्रशासन का जो विकेन्द्रीकरण होगा, उससे ऐसे विवादों के अविलंब निपटारे का वांछित उद्देश्य पूरा हो सकेगा ताकि विश्वविद्यालय प्रशासन अवरुद्ध न हो ?

(च) क्या ऐसा अधिकरण राज्य सरकार और विश्वविद्यालय के बीच कुलपतियों की नियुक्ति, विश्वविद्यालयों की संबद्धता और आन्तरिक और वित्तीय स्वायत्तता के मामलों में टकराव की स्थिति को कम करने में सहायक होगा ?

(छ) क्या ऐसा अधिकरण विश्वविद्यालयों में श्रेष्टता प्राप्त करने के प्रयास के लिए शांत वातावरण निर्मित करेगा ?

(ज) इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए कि परीक्षा प्रणाली की विश्वसनीयता को सभी प्रकार के भ्रष्ट प्रभावों ने कम कर दिया है, क्या ऐसा अधिकरण विश्वसनीयता पुनः स्थापित करने में सहायक होगा ?

(झ) क्या अधिकरण वृत्तिक महाविद्यालयों में प्रवेश से संबंधित विवादों का, जो बार-बार घटित होने वाली स्थिति है, निराकरण करने में सहायक होगा ?

विधि आयोग इस संबंध में विश्वविद्यालय प्रशासकों शिक्षकों, विद्यार्थियों, विश्वविद्यालयों के भारतीय संघ, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग की वांछा करता है और प्रत्येक सुझाव प्रशंसनीय होगा।

MGIPRRND—1500 L & J/88—VIII—21-8-89—300.

PLD. 92 CXXIII (H)
300—1988 (DSK IV)

मूल्य :— देश में : रु० 170.00
विदेश में : £ 20.40 या $ 61.20

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, रिंग रोड, नई दिल्ली-110064 द्वारा मुद्रित
और नियंत्रक, प्रकाशन विभाग, दिल्ली – 110054 द्वारा प्रकाशित
1989